यथार्थ वस्तुकी तर्फ झुकते हुए ज्ञानको ईहाज्ञान कहते हैं। अर्थात् बकपंक्ति हो तो 'बकपंक्ति होनी चाहिये' ऐसे ज्ञानको ईहा कहते हैं। यदि ध्वजा हो तो 'ध्वजा होनी चाहिये' ऐसा ज्ञान ईहा कहाता है।

ईहाके पश्चात् ही जो ईहामें ज्ञान हुआ था उसका विशेष चिह्नोंसे निश्चय होना (बकपंक्ति हो तो बकपंक्ति और ध्वजा हो तो ध्वजा) वह अवायमतिज्ञान है। जिस ज्ञानके कारण जाने हुए पदार्थको कालांतरमें नहीं भूले वह धारणामतिज्ञान है॥ १५॥

बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम्॥ १६॥

अर्थ—(बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां) बहु बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत अनुक्त और ध्रुव इन छह प्रकारसे पदार्थोंका अवग्रह ईहादिरूप ग्रहण (ज्ञान) होता है। जैसे-एकसाथ बहुत अवग्रहादिरूप ग्रहण होना सो बहुग्रहण है॥ १॥ बहुत प्रकारके पदार्थोंका अवग्रहादिरूप ज्ञान सो बहुविधग्रहण है॥२॥ शीघ्रतासे पदार्थका अवग्रहादिरूप ज्ञान हो जाना सो क्षिप्रग्रहण है॥ ३॥ जलमें डूबे हुए हस्ती मनुष्यादिकका एक देश जाननेसे उस संपूर्ण पदार्थका अवग्रहादिरूप ज्ञान होना सो अनिःसृतग्रहण है॥ ४॥ वचनसे सुने विना ही अभिप्रायसे ज्ञान लेना सो अनुक्तग्रहण है॥ ५॥ बहुत कालतक जितनाका तितना निश्चलरूपसे पदार्थका ज्ञान होते रहना सो ध्रुवग्रहण है॥ ६॥ इसी प्रकार इनसे उलटे कर्म तथा ज्ञानके छह भेद हैं। जैसे थोडेसे पदार्थका ज्ञान उत्पन्न होना सो अल्पग्रहण है॥ ७॥ एक प्रकारका जानना सो एक-

---

१ ज्ञानके ये चारों भेद एक ही पदार्थमें उत्तरोत्तर विशेषरूप होते हैं।

बादशाह मानना, यह अतदाकारस्थापना है। नामनिक्षेपमें पूज्य अपूज्यबुद्धि नहीं होती है, परंतु स्थापनानिक्षेपमें होती है॥ २॥ जो भूत भविष्यत् पर्यायकी मुख्यता लेकर वर्तमानमें कहना सो द्रव्यनिक्षेप है। जैसे—भविष्यत्में होनेवाले राजाके पुत्रको (युवराजको) वर्तमानमें राजा कहना अथवा जो भूतकालमें फौजदार था, उसका ओहदा चला जानेपर भी उसे फौजदार कहना, यह द्रव्यनिक्षेप है॥ ३॥ जिस पदार्थकी वर्तमानमें जो पर्याय हो, उसको उसीरूप कहना सो भावनिक्षेप है। जैसे—काष्ठको काष्ठ कहना और कोयला होनेपर कोयला और राख होनेपर राख कहना ॥ ४॥ ये चारों भेद ज्ञेयके (पदार्थके) होते हैं॥ ५॥

आगे जाननेका साधन बताते हैं।—

प्रमाणनयैरधिगमः॥ ६॥

अर्थ—उक्त जीवादि तत्त्वोंका तथा सम्यग्दर्शनादिकोंका (अधिगमः) ज्ञान अर्थात् स्वरूपका जानना (प्रमाणनयैः) प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाणोंसे (सम्यग्ज्ञानसे) और द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नयोंसे होता है। जो पदार्थके सर्वदेशको कहै—जनावै, उसको प्रमाण कहते हैं। पदार्थके एकदेशको कहै—जनावै, उसको नय कहते हैं। आत्मा जिस ज्ञानके द्वारा विना अन्य पदार्थकी सहायतासे ही पदार्थको अत्यंत निर्मल स्पष्टपने जानै, उसको प्रत्यक्षप्रमाण कहते हैं और चक्षुरादि इन्द्रियोंकी सहायतासे तथा शास्त्रादिकसे पदार्थको अस्पष्ट जानै, उसको परोक्षप्रमाण कहते हैं। इसीके एक भागको अनुमानप्रमाण भी कहते हैं। जो पर्यायको उदासीनरूपसे देखता हुआ द्रव्य

१ असली पदार्थका आकार जिसमें न हो, ऐसी किसी भी पदार्थमें किसीकी स्थापना (कल्पना) करना सो अतदाकारस्थापना है।

प्रकाशक—
बिहारीलाल कठनेरा जैन,
मालिक-जैनसाहित्यप्रसारक कार्यालय,
हीराबाग, पो० गिरगांव, बम्बई।
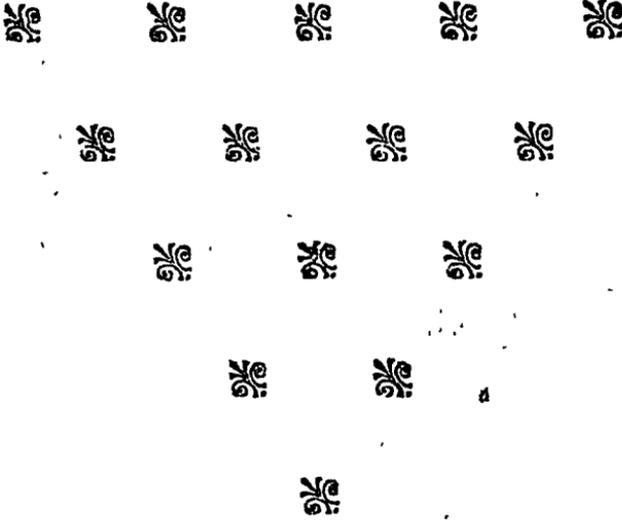
मुद्रक—
पं० बंशीधर उदयराज,
"श्रीधर" प्रेस, भवानीपेठ, शोलापुर।

प्रास्ताविक दो शब्द।

यह तत्त्वार्थ-सूत्र दि० जैन समाजमें बहुत बडे दर्जेका ग्रन्थ माना गया है। इसमें धर्मका संक्षिप्त परंतु सर्वांगपूर्ण वर्णन है। इसपर अनेक व्याख्याएं हो चुकी हैं, उनमें बडे बडे रहस्य खोले गये हैं। कुछ पाठभेदके साथ इसे श्वेतांबर समाज भी मानता है। इसके हिंदी अर्थके साथ भी कितने ही संस्करण होचुके हैं। इस संस्करणमें हमने विशेष सुधार किया है, यह पढने तथा मिलान करनेसे मालूम होगा। इस संस्करणके सुधारका एक छोटासा उदाहरण हम यहां देते हैं। पांच वर्णोंमें काला और नीला ये दो वर्ण कई लेखकोंने इसके हिंदी अर्थमें लिखे हैं और हरा नाम छोड दिया है; परंतु वास्तवमें नीला जुदा वर्ण नहीं है, हरा जुदा है। इसलिये हमने हरा ही लिखा है। इसी प्रकारका बहुतसा विशेष लाभ इस संस्करणके पढने वालोंको होगा। विद्यार्थियोंके लिये तो यह अति उपयोगी पुस्तक है। समाजमें इसका पठन-पाठन जितना अधिक बढेगा उतनी ही धर्मकी उन्नति विशेष होगी।

वंशीधर पंडित।

धन्यवाद ।

शास्त्री श्रीमान् पं० वंशीधरजी न्यायतीर्थने किसी
भी प्रकारका पुरस्कार लिये बिना
हमारे लिये यह ग्रंथ लिख दिया
है । उन्होंने इसके प्रेस-
प्रूफके संशोधन करनेका
भी कष्ट उठाया है ।
अतः उनके प्रति
हमारा हार्दिक
धन्यवाद है ।

प्रकाशक ।

यथार्थ वस्तुकी तर्फ झुकते हुए ज्ञानको ईहाज्ञान कहते हैं। अर्थात् बकपंक्ति हो तो 'बकपंक्ति होनी चाहिये' ऐसे ज्ञानको ईहा कहते हैं। यदि ध्वज हो तो 'ध्वज होनी चाहिये' ऐसा ज्ञान ईहा कहाता है।

ईहाके पश्चात् ही जो ईहामें ज्ञान हुआ था उसका विशेष चिह्नोंसे निश्चय होना (बकपंक्ति हो तो बकपंक्ति और ध्वजा हो तो ध्वजा) वह अवायमतिज्ञान है। जिस ज्ञानके कारण जाने हुए पदार्थको कालांतरमें नहीं भूलै वह धारणामतिज्ञान[1] है ॥ १५ ॥

बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ॥ १६ ॥

अर्थ—(बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां) बहु बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत अनुक्त और ध्रुव इन छह प्रकारसे पदार्थोंका अवग्रह ईहादिरूप ग्रहण (ज्ञान) होता है। जैसे-एकसाथ बहुत अवग्रहादिरूप ग्रहण होना सो बहुग्रहण है ॥ १ ॥ बहुत प्रकारके पदार्थोंका अवग्रहादिरूप ज्ञान सो बहुविधग्रहण है ॥२॥ शीघ्रतासे पदार्थका अवग्रहादिरूप ज्ञान हो जाना सो क्षिप्रग्रहण है ॥ ३ ॥ जलमें डूबे हुए हस्ती मनुष्यादिकका एक देश जाननेसे उस संपूर्ण पदार्थका अवग्रहादिरूप ज्ञान होना सो अनिःसृतग्रहण है ॥ ४ ॥ वचनसे सुने विना ही अभिप्रायसे जान लेना सो अनुक्तग्रहण है ॥ ५ ॥ बहुत कालतक जितनाका तितना निश्चलरूपसे पदार्थका ज्ञान होते रहना सो ध्रुवग्रहण है ॥ ६ ॥ इसी प्रकार इनसे उलटे कर्म तथा ज्ञानके छह भेद हैं। जैसे थोडेसे पदार्थका ज्ञान उत्पन्न होना सो अल्पग्रहण है ॥ ७ ॥ एक प्रकारका जानना सो एक-

---

१ ज्ञानके ये चारों भेद एक ही पदार्थमें उत्तरोत्तर विशेषरूप होते हैं।

मिथ्यात्व कषायादि संसारकी कारणरूप क्रियाओंसे छूटनेको सम्यक्चारित्र कहते हैं ॥ १ ॥

सम्यग्दर्शनका लक्षण—

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥ २ ॥

अर्थ-(तत्त्वार्थश्रद्धानं) तत्त्व–अर्थात् वस्तुके स्वरूपसहित अर्थ अर्थात् पदार्थोंका (तत्त्वोंका) श्रद्धान करना (सम्यग्दर्शनं) सम्यग्दर्शन है ॥ २ ॥

तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥ ३ ॥

अर्थ–(तत्) वह सम्यग्दर्शन (निसर्गात्) स्वभावसे (वा) अथवा (अधिगमात्) परके उपदेशसे प्रगट होता है। अर्थात् जो सम्यग्दर्शन परके उपदेश विना अपने आप ही प्रगट हो, उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं और अन्यके उपदेशसे प्रगट हो उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं ॥ ३ ॥

आगे तत्त्वोंको गिनाते हैं।—

जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥ ४ ॥

अर्थ–(जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षाः) जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात (तत्त्वं) तत्त्व हैं। चेतनायुक्त जीव है। जिनमें चेतनागुण नहीं है ऐसे पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पांच अजीव हैं। शुभ अशुभ कर्मोंके आनेके द्वारको आस्रव कहते हैं। आत्माके प्रदेशोंमें कर्मोंके प्रवेश होनेको बंध कहते हैं। आस्रवोंका रुकना संवर है। आत्माके प्रदेशोंमेंसे कर्मोंका

कुछ कुछ क्षय होना (पृथक् होना) निर्जरा है । समस्त कर्मोंका सर्वथा पृथक् हो जाना मोक्ष है ॥ ४ ॥

तत्त्वादिकोंके व्यवहारप्रकार, जो निक्षेप कहाते हैं उन्हे आगे दिखाते हैं।—

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ॥ ५ ॥

अर्थ—(**नामस्थापनाद्रव्यभावतः**) नामसे, स्थापनासे, द्रव्यसे, और भावसे (**तत्न्यासः**) उन सात तत्त्वोंका तथा सम्यग्दर्शनादिकका भी न्यास अर्थात् व्यवहार होता है। गुण, जाति, द्रव्य और क्रियाकी अपेक्षा न रहते ही अपनी इच्छानुसार लोकव्यवहारके लिए किसी पदार्थकी संज्ञा करनेको **नामनिक्षेप** कहते हैं। जैसे किसी पुरुषका नाम इंद्र है, परंतु उसमें इंद्रसमान गुण, जाति, द्रव्य, क्रिया कुछ भी नहीं है; केवल व्यवहारार्थ उसका वह नाम रख दिया गया है। लोकमें चतुर्भुज, धनपाल, देवदत्त, यज्ञदत्त हाथी, सिंह, जोरावर इत्यादि नाम रख लेते हैं। गुण, जाति द्रव्य, क्रियाकी अपेक्षासे ये नाम नहीं रक्खे जाते इसीको नामनिक्षेप कहते हैं ॥ १ ॥ धातु, काष्ठ, पाषाण, मिट्टीके चित्रादिक तथा सतरंजकी सार आदि पदार्थोंमें हाथी, घोडा, वादशाह इत्यादि तदाकार वा अतदाकाररूप कल्पना करलेनेको **स्थापनानिक्षेप** कहते हैं। जैसे पार्श्वनाथ भगवान्की वीतरागरूप जैसीकी तैसी शांतमुद्रायुक्त धातुपाषाणमय प्रतिमामें (उसकी) प्रतिष्ठापना करना। यह **तदाकारस्थापना** है। सतरंजकी गोटोंमें हाथी, घोडा

---

१ जो पदार्थ जिस आकारका हो उसे वैसा ही पत्थर काष्ठ मृत्तिकादिका बनाकर उसमें उसीकी स्थापना करनेको तदाकारस्थापना कहते हैं।

बादशाह मानना, यह अतदाकारस्थापना[1] है। नामनिक्षेपमें पूज्य अपूज्यबुद्धि नहीं होती है, परंतु स्थापनानिक्षेपमें होती है॥ २॥ जो भूत भविष्यत् पर्यायकी मुख्यता लेकर वर्तमानमें कहना सो द्रव्यनिक्षेप है। जैसे—भविष्यत्में होनेवाले राजाके पुत्रको (युवराजको) वर्तमानमें राजा कहना अथवा जो भूतकालमें फौजदार था, उसका ओहदा चला जानेपर भी उसे फौजदार कहना, यह द्रव्यनिक्षेप है॥ ३॥ जिस पदार्थकी वर्तमानमें जो पर्याय हो, उसको उसीरूप कहना सो भावनिक्षेप है। जैसे—काष्ठको काष्ठ कहना और कोयला होनेपर कोयला और राख होनेपर राख कहना ॥ ४॥ ये चारों भेद ज्ञेयके (पदार्थके) होते हैं॥ ५॥

आगे जाननेका साधन बताते हैं।—

प्रमाणनयैरधिगमः ॥ ६ ॥

अर्थ—उक्त जीवादि तत्त्वोंका तथा सम्यग्दर्शनादिकोंका (अधिगमः) ज्ञान अर्थात् स्वरूपका जानना (प्रमाणनयैः) प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाणोंसे (सम्यग्ज्ञानसे) और द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नयोंसे होता है। जो पदार्थके सर्वदेशको कहै—जनावै, उसको प्रमाण कहते हैं। पदार्थके एकदेशको कहै—जनावै, उसको नय कहते हैं। आत्मा जिस ज्ञानके द्वारा विना अन्य पदार्थकी सहायतासे ही पदार्थको अत्यंत निर्मल स्पष्टपने जानै, उसको प्रत्यक्षप्रमाण कहते हैं और चक्षुरादि इन्द्रियोंकी सहायतासे तथा शास्त्रादिकसे पदार्थको अस्पष्ट जानै, उसको परोक्षप्रमाण कहते हैं। इसीके एक भागको अनुमानप्रमाण भी कहते हैं। जो पर्यायको उदासीनरूपसे देखता हुआ द्रव्य

---

१ असली पदार्थका आकार जिसमें न हो, ऐसी किसी भी पदार्थमें किसीकी स्थापना (कल्पना) करना सो अतदाकारस्थापना है।

को ही मुख्यतासे कहै वह द्रव्यार्थिकनय है और जो द्रव्यको मुख्य नहीं करके एक पर्यायको ही कहै वह पर्यायार्थिकनय है ॥ ६ ॥

निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ॥ ७ ॥

अर्थ निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान इनसे भी जीवादिक तथा सम्यग्दर्शनादिका अधिगम (ज्ञान) होता है। वस्तुरूपके नाम मात्र कहनेको निर्देश कहते हैं। वस्तुके अधिकारीको स्वामित्व कहते हैं। वस्तुकी उत्पत्तिके कारणको साधन कहते हैं। वस्तुके आधारको अधिकरण कहते हैं। वस्तुके कालकी मर्यादाको स्थिति, और वस्तुके प्रकारको (भेद कहनेको) विधान कहते हैं ॥ ७ ॥

सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालांतरभावाल्पबहुत्वैश्च ॥ ८ ॥

अर्थ-(च) और पदार्थका सत्-अस्तित्व, संख्या-वस्तुके परिणामोंकी गणना, क्षेत्र-पदार्थका वर्तमान निवास, स्पर्शन-जिस आधारमें सर्वदा निवास रहै ऐसा अधिकरण, काल--वस्तुके ठहरनेकी मर्यादा, अंतर-विरहकाल, भाव-पदार्थोंके औपशमिकादिरूप भाव और अल्पबहुत्व-एकवस्तुका दूसरेकी अपेक्षा कम या बहुतपना, इन आठोंके स्वरूप जानने वा कहनेसे भी सम्यग्दर्शनादि तथा जीवादिक पदार्थोंका अधिगम (ज्ञान) होता है[१] ॥ ८ ॥

अब सम्यग्ज्ञानके भेदोंको तथा स्वरूपको कहते हैं-

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ॥ ९ ॥

अर्थ-(मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि) मति, श्रुत अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पांच प्रकारके (ज्ञानं) ज्ञान हैं।

---

१ इनका विस्तृत कथन सर्वार्थसिद्धि गोमटसार, धवल आदि ग्रंथ ... [illegible] ग्रंथोंमें वर्णित है।

जो पांच इंद्रियोंसे और मनसे पदार्थको जानें, उसे **मतिज्ञान** कहते हैं। जो मतिज्ञानके द्वारा जाने हुए पदार्थकी सहायतासे उसी पदार्थके भेदोंको अथवा अन्य पदार्थको जाने, उसे **श्रुतज्ञान** कहते हैं। जो क्षेत्र काल भाव तथा द्रव्यकी मर्यादा लिये रूपी पदार्थको प्रत्यक्ष-रूपसे जाने, उसे **अवधिज्ञान** कहते हैं। जो किसीके मनमें तिष्ठे हुए रूपी पदार्थोंको स्पष्ट जाने, वह **मनःपर्ययज्ञान** है। जो समस्त द्रव्यक्षेत्रकालभावको प्रत्यक्षरूप जाने अर्थात् भूत भविष्यत् वर्त्तमानमें होनेवाली पदार्थोंकी समस्त पर्यायोंको युगपत् जाने वह **केवलज्ञान** है ॥ ९ ॥

तत् प्रमाणे ॥ १० ॥

अर्थ–(तत्) ऊपर कहा हुआ पांच प्रकारका ज्ञान है वह (प्रमाणे) प्रमाणरूप है— उसके दो मूल भेद हैं। भावार्थ–उक्त पांच प्रकारके ज्ञान प्रत्यक्ष–परोक्षरूप दो विभागोंमें विभक्त हैं और वे प्रमाण हैं ॥ १० ॥

आद्ये परोक्षम् ॥ ११ ॥

अर्थ– (आद्ये) आदिके दो मति और श्रुतज्ञान (परोक्षं) परोक्षप्रमाण हैं ॥ ११ ॥

प्रत्यक्षमन्यत् ॥ १२ ॥

अर्थ–(अन्यत्) बाकीके अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान (प्रत्यक्षम्) प्रत्यक्षप्रमाण हैं ॥ १२ ॥

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिंताभिनिबोध इत्यनर्थांतरम् ॥ १३ ॥

अर्थ–(मतिः) मन और इंद्रियोंसे वर्तमानकालवर्ती पदार्थको अवग्रहादिरूप जानना, (स्मृतिः) अनुभूत पदार्थोंका कालांतरमें

स्मरण होना, (संज्ञा) वर्तमानमें किसी पदार्थको देखकर यह वही है जो पहले देखा था अथवा यह वह नहीं है जो पहले देखा था इस प्रकार जोडरूप ज्ञान—(इसको प्रत्यभिज्ञान भी कहते हैं), (चिंता) अविनाभावसम्बन्धका ज्ञान—(इसको ऊह तथा तर्क भी कहते हैं), (अभिनिबोधः) [illegible] चिह्नादिक देखकर उस चिन्हवालेका निश्चय कर लेना—(इसको स्वार्थानुमान भी कहते हैं) । (इति) इनको आदि लेकर प्रतिभा, बुद्धि, उपलब्धि इत्यादि सब (अनर्थान्तरम्) अर्थभेदरहित हैं अर्थात् मतिज्ञानके ही नाम हैं क्योंकि ये सब मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे ही होते हैं ॥१३

तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं ॥ १४ ॥

अर्थ—(तत्) वह मतिज्ञान (इंद्रियानिंद्रियनिमित्तं) बाह्यमें पांच इंद्रिय और मनके निमित्तसे होता है अर्थात् इसके छह बाह्य कारण हैं[1] किंतु अंतरंगमें मतिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम इसका कारण है ॥ १४ ॥

अवग्रहेहावायधारणाः ॥ १५ ॥

अर्थ—मतिज्ञानके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद हैं । किसी वस्तुकी सत्ता मात्रको देखे उसको दर्शन वा दर्शनोपयोग कहते हैं । दर्शनके पश्चात् श्वेत वा कृष्णादि-रूप विशेष जाननेको अवग्रहमतिज्ञान कहते हैं । अवग्रहके पश्चात् यह श्वेत वा कृष्ण क्या पदार्थ है ? क्या बगला है अथवा बगपंक्ति है ? इस प्रकार संशय उत्पन्न होता है । उस संशयको हटाकर

---

१. बाह्य कारणोंकी अपेक्षासे इसके छह भेद हैं स्पर्शन, रसन, घ्राण, चाक्षुष, श्रावण और मानस ।

विघग्रहण है ॥ ८ ॥ पदार्थको धीरे धीरे बहुत कालमें जानना सो चिरग्रहण है ॥ ९ ॥ बाहर निकले हुए प्रकटरूप पदार्थका जानना सो निःसृतग्रहण है ॥ १० ॥ यह घट है इसप्रकार शब्द सुनकर घटपटादि पदार्थोंका जानना सो उक्तग्रहण है ॥ ११ ॥ क्षण-क्षणमें कमती ज्यादा होता रहै अथवा क्षणमात्रमें नष्ट हो जाय इस प्रकारसे पदार्थका जानना सो अध्रुवग्रहण है ॥ १२ ॥ इस तरह बारह प्रकारसे पदार्थोंका अवग्रह ईहा अवाय धारणारूप मतिज्ञान होता है ॥ १६ ॥

अर्थस्य ॥ १७ ॥

अर्थ—पदार्थोंके ये बहु आदिक बारह भेद कहे सो द्रव्यके हैं अर्थात् पदार्थके बहु आदि विशेषणसहित बारह प्रकार अवग्रहादि ज्ञान होते हैं। किसीका मत है कि जो चाक्षुषज्ञान होता है वह रूपका ही होता है, द्रव्यका नहीं; द्रव्यका तो उसके संबंधसे पीछे ज्ञान होता है। इसके खंडनार्थ आचार्य महाराज कहते हैं कि—इंद्रियका संबंध द्रव्यके साथ ही होता है—केवल गुणके साथ कभी नहीं होता है। इसी कारण यह सूत्र रचा गया है ॥ १७ ॥

व्यंजनस्यावग्रहः ॥ १८ ॥

अर्थ—(व्यंजनस्य) अप्रकट शब्दादिक पदार्थोंका (अव-ग्रहः) अवग्रहरूप ही ज्ञान होता है—ईहादिक अन्य तीन ज्ञान नहीं होते हैं ॥ १८ ॥

न चक्षुरनिंद्रियाभ्याम् ॥ १९ ॥

अर्थ—किंतु (चक्षुर्निंद्रियाभ्याम्) नेत्र और मनसे व्यंजन

---

१ विषयके भेदसे बहु आदिक १२ भेद होते हैं।

(अप्रकट पदार्थ) का अवग्रहज्ञान (न) नहीं होता है ॥१९॥

आगे श्रुतका खुलासा करते हैं।—

श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ॥ २० ॥

अर्थ-(श्रुतं) श्रुतज्ञान (मतिपूर्वं) मतिज्ञानके निमित्तसे होता है और (द्व्यनेकद्वादशभेदं) दो प्रकारका है, अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट। इनमेंसे आदिका (अंगबाह्य) अनेक (चौदह) प्रकारका तथा दूसरा (अंगप्रविष्ट) बारह प्रकारका है। अभिप्राय यह है कि श्रुतज्ञानके मूल दो भेद हैं, एक द्रव्यश्रुत दूसरा भावश्रुत। यहां कारणकी मुख्यताको लेकर आचार्यने सूत्रमें द्रव्यश्रुतका ही कथन किया है और ऊपर कहे हुए भेद भी द्रव्यश्रुतके हैं। अंगप्रविष्ट श्रुतज्ञानके १ आचारांग, २ सूत्रकृतांग, ३ स्थानांग, ४ समवायांग, ५ व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग, ६ ज्ञातृधर्मकथांग, ७ उपासकाध्ययनांग, ८ अंतकृद्दशांग, ९ अनुत्तरौपपादिकदशांग, १० प्रश्नव्याकरणांग, ११ विपाकसूत्रांग, और १२ दृष्टिप्रवादअंग—इस प्रकार बारह भेद हैं। अंगबाह्यके १ सामायिक, २ चतुर्विंशस्तव, ३ वंदना, ४ प्रतिक्रमण, ५ वैनयिक, ६ कृतिकर्म, ७ दशवैकालिक, ८ उत्तराध्ययन, ९ कल्पव्यवहार, १० कल्पाकल्प, ११ महाकल्प, १२ पुंडरीक, १३ महापुंडरीक और १४ निषिधिका ये चौदह भेद हैं। अंगोंका थोडा थोडा सारांश लेकर संक्षेपसे अल्पबुद्धि पुरुषोंकेलिये रचे हुए दशवैकालिकादि श्रुत हैं ॥ २० ॥

भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम् ॥ २१ ॥

---

१ जब नेत्र और मनसे व्यञ्जनका अवग्रह नहीं होता है तब इनसे ईहादिक भी नहीं हो सकते हैं क्योंकि विना अवग्रह हुए ईहादिक नहीं हो सकते हैं।

अर्थ–जो मर्यादायुक्त प्रत्यक्ष ज्ञान हो, उसे अवधिज्ञान कहते हैं। अवधिज्ञान दो प्रकारका है एक भवप्रत्यय अवधिज्ञान, दूसरा क्षयोपशमनिमित्तक। इनमेंसे (भवप्रत्ययः) भवप्रत्ययनामका (अवधिः) अवधिज्ञान (देवनारकाणाम्) सर्व देव और नारकी जीवोंके होता है ॥ २१ ॥

क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ॥ २२ ॥

अर्थ–(क्षयोपशमनिमित्तः) क्षयोपशमनिमित्तवाला अवधिज्ञान (षड्विकल्पः) अनुगामी, अननुगामी, वर्द्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित इस प्रकार छह भेदरूप है। वह (शेषाणां) मनसहित सैनी जीवोंके अर्थात् सम्यग्दर्शनादि सहित मनुष्य और तिर्यंचोंके हो तो होता है। जो अवधिज्ञान अन्य क्षेत्र वा भवमें जीवके साथ जाय उसे **अनुगामी**, साथ नहीं जाय उसे **अननुगामी**, जो बढता रहै उसे **वर्द्धमान**, घटता रहै उसे **हीयमान**, एकसा रहै उसे **अवस्थित**, और घटता बढता रहै उसे **अनवस्थित** अवधिज्ञान कहते हैं ॥ २२ ॥

ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः ॥ २३ ॥

अर्थ–(मनःपर्ययः) मनःपर्ययज्ञान (ऋजुविपुलमती) ऋजुमति और विपुलमति भेदसे दो प्रकारका है। मनवचनकायकी

---

१ जो देवगति और नरकगतिके (भवके) कारण उत्पन्न हो उसे भवप्रत्ययावधि कहते हैं। २ चारित्रमोहनीय कर्मके क्षयोपशम होनेसे जो होता है उसको क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान कहते हैं। तथा सामान्यपने अवधिज्ञान १देशावधि, २परमावधि, सर्वावधि भेदसे तीन प्रकारका है, उसमें भवप्रत्यय अवधि देशावधि ही होता है और दूसरा तीनों ही तरहका होता है।

सरलतारूप परके मनमें तिष्ठते हुए पदार्थको जानै उसे ऋजुमति कहते हैं। और मनमें रहनेवाले सरल तथा वक्ररूप अथवा प्रकट अप्रकटरूप भावको जानै सो विपुलमति मन पर्यय है ॥ २३ ॥

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥ २४ ॥

अर्थ-(विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां) परिणामोंकी विशुद्धता और अप्रतिपातसे अर्थात् केवलज्ञान होने तक टिकै, उससे पहले नहीं छूटे इससे (तद्विशेषः) इन दोनोंमें न्यूनाधिकता है अर्थात् ऋजुमति मनःपर्ययसे विपुलमति मनःपर्यय उक्त दो हेतुओंके कारण श्रेष्ठ तथा पूज्य है ॥ २४ ॥

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्यययोः ॥ २५ ॥

अर्थ-(अवधिमनःपर्यययोः) अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानमें भी (विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्यः) विशुद्धता, क्षेत्र, स्वामी, और विषय इन चारोंकी विशेषतासे (विलक्षणतासे) भेद (फर्क) होता है। अर्थात् इन दोनोंकी विशुद्धता, क्षेत्रमर्यादा, स्वामी और विषय न्यूनाधिक हैं। अभिप्राय यह कि मनःपर्ययज्ञान, विशुद्ध, अल्पक्षेत्र, अल्पस्वामी और सूक्ष्म विषयवाला है। और अवधिज्ञान, अविशुद्ध, वडा क्षेत्र, वहुत स्वामी, और स्थूल विषयवाला है ॥ २५ ॥

मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥ २६ ॥

अर्थ-(मतिश्रुतयोः) मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका (निबंधः) विषयोंके जाननेका सम्बंध वा नियम (द्रव्येषु) द्रव्योंकी (असर्वपर्यायेषु) कुछ पर्यायोंमें है। अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान जीवादि छहों द्रव्योंकी समस्त पर्यायोंको नहीं जानते, थोडी थोडी

---

१ चारित्ररूपी पर्वतसे नहीं गिरना उसको अप्रतिपात कहते हैं।

पर्यायोंको ही जान सकते हैं ॥ २६ ॥

रूपिष्ववधेः ॥ २७ ॥

अर्थ-(अवधेः) अवधिज्ञानके विषयका नियम (रूपिषु) रूपी मूर्तिक पदार्थोंमें है । अर्थात् अवधिज्ञान पुद्गलद्रव्यकी पर्यायोंको और पुद्गलसे बद्ध संसारी जीवोंकी पर्यायोंको ही जानता है ॥ २७ ॥

तदनंतभागे मनःपर्ययस्य ॥ २८ ॥

अर्थ—जो रूपी द्रव्य सर्वावधिज्ञानका विषय है (तदनंतभागे) उसका अनंतवां भाग तक सूक्ष्म द्रव्य (मनःपर्ययस्य) मनःपर्यय-ज्ञानका विषय होता है ॥ २८ ॥

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥ २९ ॥

अर्थ-(केवलस्य) केवलज्ञा के विषयका नियम (सर्वद्रव्य-पर्यायेषु) समस्त द्रव्योंकी समस्त पर्यायोंमें है । अर्थात् एक एक द्रव्यकी त्रिकालवर्ती अनंतानंत पर्याय हैं; ऐसी छहों द्रव्योंकी समस्त अवस्थाओंको केवलज्ञान (युगपत्) जानता है ॥ २९ ॥

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्भ्यः ॥ ३० ॥

अर्थ-(एकस्मिन्) एक जीवमें (एकादीनि) एकको आदि लेकर (भाज्यानि) विभाग किये हुए (युगपत्) एकसाथ (आ चतुर्भ्यः) चार ज्ञान तक हो सकते हैं । यदि किसी

---

१ अवधिज्ञानके देशावधि आदि तीन भेद हैं । उनमें सबसे सूक्ष्म विषय (एक परमाणु) सर्वावधिका है । इससे उसीके विषयका अनंतानंत अविभागप्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा भाग किया है । २ 'भक्तुं योग्यानि भाज्यानि' ये ज्ञान विभाग करने योग्य हैं ।

जीवमें एक ज्ञान हो तो केवलज्ञान होता है । दो ज्ञान हों तो मति और श्रुत होते हैं । तीन ज्ञान हों तो मति, श्रुत और अवधि ये तीन अथवा मति, श्रुत और मनःपर्यय ये तीन होते हैं । चार हों तो मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ये चार ज्ञान एक साथ हो सकते हैं । पांचों ज्ञान एक साथ नहीं होते क्योंकि, केवलज्ञान क्षायिक है इस लिये क्षायोपशमिक दूसरे ज्ञान उसके साथ नहीं होते ॥ ३० ॥

मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ॥ ३१ ॥

अर्थ-(मतिश्रुतावधयः) मति श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान विपर्ययः च) विपर्यय भी होते हैं । अर्थात् इन पांचों ज्ञानोंमेंसे जो कि सम्यग्ज्ञानके भेद हैं मति, श्रुत और अवधि ये तीन विपर्यय अर्थात् मिथ्याज्ञान भी होते हैं, जिनको कुमतिज्ञान कुश्रुतज्ञान और कुअवधिज्ञान (विभंग-अवधि) कहते हैं । इसप्रकार तीन तो कुज्ञान और पांच सम्यग्ज्ञान, सब मिलकर आठ प्रकारके ज्ञान होते हैं।।३१॥

ये ज्ञान कुज्ञान क्यों हैं ? ऐसा प्रश्न होनेपर हेतु और दृष्टांत देते हैं:—

सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥ ३२ ॥

अर्थ-(सदसतोः) सत् और असतरूप पदार्थोंके (अविशेषात्) विशेषका अर्थात् भेदका ज्ञान नहीं होनेसे (यदृच्छोपलब्धेः) स्वेच्छारूप यद्वा तद्वा जाननेके कारण (उन्मत्तवत्) उन्मत्तके ज्ञानके समान ये मिथ्याज्ञान भी होते हैं । **भावार्थ-** जिसप्रकार मदिरासे उन्मत्त पुरुष भार्याको माता और माताको भार्या समझता है । यह उसका मिथ्याज्ञान है । परंतु किसी समय वह

भार्याको भार्या और माताको माता भी कहता है, तो भी उसका वह जानना सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता है । क्योंकि उस माता और भार्यामें क्या विशेषता है इसका सत्यासत्यनिर्णयरूप यथार्थ ज्ञान नहीं है । इसीप्रकार मिथ्यादर्शनके उदयसे सत् और असत् पदार्थोंका भेद नहीं समझते हुए कुमति, कुश्रुत और कुअवधिज्ञानवालेका यथार्थ जानना भी मिथ्याज्ञान ही है ॥ ३२ ॥

नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः ॥ ३३

अर्थ-(नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूताः) नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ये सात (नयाः) नय हैं । वस्तुमें अनेक धर्म अर्थात् स्वभाव होते हैं, उनमेंसे किसी एक धर्मकी मुख्यता लेकर अविरोधरूप साध्य पदार्थको जानै या कहै सो नय है । ऊपर लिखे हुए नयके सात भेद हैं ॥ ३३ ॥

१. जितने द्रव्य हैं, वे अपनी भूत, भविष्यत् और वर्तमानकालकी समस्त पर्यायोंसे अन्वयरूप अर्थात् जोडरूप हैं—अपनी किसी भी पर्यायसे कोई द्रव्य भिन्न नहीं है । इसलिये अतीत पर्यायोंका तथा भविष्यत् पर्यायोंका वर्त्तमानकालमें संकल्प करै, ऐसे ज्ञानको तथा वचनको नैगमनय कहते हैं । जैसे कोई पुरुष रोटी बनाने की सामग्री इकट्ठी करता है; उससे किसीने पूछा कि क्या करते हो ? इसके उत्तरमें उसने कहा कि, 'रोटी बनाता हूं' । किंतु यहां अभीतक रोटी बनानेरूप पर्याय प्रगट नहीं हुई, वह केवल मात्र लकडी जल वगैरह रख रहा है । तथापि नैगमनयसे ऐसा वचन कह सकता है कि 'मैं रोटी बना रहा हूं' ।

२. जो एक वस्तुकी समस्त जातिको व उसकी समस्त पर्यायों-को संग्रहरूप करके एकस्वरूप कहै, उसको संग्रहनय कहते हैं। जैसे 'घट' कहनेसे सब घटोंको समझना अथवा 'द्रव्य' कहनेसे जीव अजीवादि तथा उनके भेद प्रभेदादि सबको समझना वह संग्रहनय है।

३. जो संग्रहनयसे ग्रहण किये हुए पदार्थोंका विधिपूर्वक (व्यवहारके अनुकूल) व्यवहरण अर्थात् भेद प्रभेद करैं वह व्यवहारनय है। जैसे-संग्रहनयसे 'द्रव्य' कहनेसे समस्त भेद प्रभेदरूप द्रव्योंका सामान्यसे ग्रहण होता है। परन्तु द्रव्य दो प्रकारके हैं, जीव और अजीव। जीव-देव, नारकी, मनुष्य और तिर्यंच-चार प्रकारके हैं। अजीव-पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश ऐसे पांच प्रकारके हैं। इस प्रकार व्यवहारके साधक जितने भेद प्रभेद हो सकें उनको जो बतलावे या जाने सो व्यवहारनय है।

४. अतीत अनागत दोनों पर्यायोंको छोडकर वर्तमानपर्यायमात्रको ग्रहण करें वह ऋजुसूत्रनय है। द्रव्यकी पर्याय समय समयमें परिणमती (पलटती) रहती हैं। एकसमयवर्त्ती पर्यायको अर्थपर्याय कहते हैं। अर्थपर्याय ही ऋजुसूत्रनयका विषय है। ऋजुसूत्रनय वर्तमान एक समयमात्रकी पर्यायको कहता तथा जानता है। अतीत अनागत समयकी पर्यायको कहता तथा जानता नहीं है।

५. जो व्याकरणसंबन्धी लिंग, संख्या (वचन), साधन (कारण) काल आदिकके व्यभिचारको (दोषोंको) दूर करके जाने वा कहे उसे शब्दनय कहते हैं।

---

१ कालके सबसे छोटे भागको समय कहते हैं।

६. अनेक अर्थोंको छोड कर जो एक ही अर्थमें रूढ–प्रसिद्ध हो, उसको जाने वा कहे वह समभिरूढनय है। जैसे--गो शब्दके गमन आदि अनेक अर्थ होते हैं तथापि मुख्यतासे गो नाम गाय वा बैलका ही ग्रहण किया जाता है। उसको चलते बैठते सोते सब अवस्थाओंमें सब लोग गो ही कहते हैं। सो यह समभिरूढनय है।

७. जिस कालमें जो क्रिया करता हो, उसको उस कालमें उसी नामसे जाने वा कहे, उसे एवंभूतनय कहते हैं। जैसे--देवोंके पति इंद्रको जब वह परम ऐश्वर्यसहित हो, उस अवस्थामें इन्द्र कहना, पूजन अभिषेकादि करते हुए इंद्र नहीं कहना; तथा जिस कालमें वह शक्तिरूप क्रियाको करे उस समय ' शक्र ' कहना, अन्य समयमें शक्र नहीं कहना।

इन सातों नयोंमेंसे नैगम, संग्रह और व्यवहार ये तीन नय तो द्रव्यार्थिक हैं और ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ तथा एवंभूत ये चार पर्यायार्थिक हैं।

यहां कोई संदेह करे कि द्रव्यसंग्रह, पुरुषार्थसिद्ध्युपायादि ग्रंथोंमें जो नयके निश्चय और व्यवहार दो भेद कहे वे कौनसे हैं, सो उसके लिये कहा जाता है कि:—

पदार्थके निजस्वरूपको मुख्य करे सो तो निश्चयनय है और जो किसी प्रयोजनके वश अन्य पदार्थके भावको अन्यपदार्थमें आरोपण करे अथवा परनिमित्तसे उत्पन्न हुए नैमित्तिक भावको ही वस्तुका निजभाव कहे, उसे व्यवहारनय कहते हैं। इसको उपचारनय तथा उपनय भी कहते हैं। उपर्युक्त नैगमादि सात नय द्रव्यके निजस्वरूपको ही मुख्य करते हैं, इस कारण नैगमादि तीन द्रव्या-

र्थिक और ऋजुसूत्रादि चार पर्यायार्थिक इस प्रकार सातों नय निश्चय-नयके भेद हैं। और व्यवहार (उपचार) नयके सद्भूतव्यवहार, असद्भूतव्यवहार और उपचरितव्यवहार ये तीन भेद हैं। जैसे—जीवको रागादिक भावकर्मोंका कर्त्ता कहना सो असद्भूतव्यवहारनय है। और घटपटादिका कर्त्ता कहना सो उपचरितव्यवहारनय है। निश्चयनयके भी दो भेद हैं, एक शुद्धनिश्चयनय और दूसरा अशुद्ध-निश्चयनय। जैसे—जीवको क्षयोपशमरूप मतिज्ञानादिक चार ज्ञानोंका कर्त्ता कहना सो तो अशुद्धनिश्चयनय है और शुद्ध दर्शन ज्ञानका अर्थात् केवलदर्शन और केवलज्ञानका कर्त्ता कहना सो शुद्धनिश्चयनय है। इनका विशेष स्वरूप आलापपद्धति, पंचाध्यायी तथा नय-चक्रादि ग्रंथोंसे जानना चाहिये ॥ ३३ ॥

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

द्वितीय अध्याय।

पहले सम्यग्दर्शनके लक्षणमें जीवादि सात तत्त्वोंका श्रद्धान कहा था। उनमेंसे प्रथम जीवका निजभाव (स्वरूप) क्या है? ऐसा प्रश्न होनेपर आचार्य सूत्र कहते हैं:—

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य
स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ॥ १ ॥

अर्थः—(जीवस्य) जीवके (औपशमिकक्षायिकौ) औप-शमिक और क्षायिक (भावौ) भाव (च मिश्रः) और मिश्र (औदयिकपारिणामिकौ च) औदयिक तथा पारिणामिक भाव

ये पांच प्रकारके भाव हैं और ये पांचों ही भाव जीवके (स्वतत्त्वं) निजतत्त्व वा निजभाव हैं अर्थात् ये जीवमें ही होते हैं। जैसे–मलिन जलमें निर्मली वा फिटकडी डालनेसे कीचड नीचे बैठ जाता है और उसका जल निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार कर्मोंके उपशम होनेसे (उदय न होनेसे) जीवके परिणाम जो विशुद्ध हो जाते हैं, उनको **औपशमिकभाव** कहते हैं। कर्मोंके सर्वथा नाश होनेसे जो आत्माके अत्यंत शुद्धभाव होते हैं, उनको **क्षायिकभाव** कहते हैं। सर्वघाती कर्मोंके उदयाभावी क्षय होने (फल नहीं देकर झड जाने) वा उपशम होने तथा देशघाती कर्मोंके उदय होनेसे जो भाव होते हैं उनको **मिश्रभाव** अथवा **क्षायोपशमिकभाव** कहते हैं। द्रव्य-क्षेत्रकालभावरूप निमित्तसे कर्म जो अपना फल देता है उसको उदय कहते हैं। उन कर्मोंके उदयसे जो आत्माके भाव होते हैं उनको **औदयिकभाव** कहते हैं। जिन भावोंमें कर्मोंकी कुछ भी अपेक्षा नहीं है उन भावोंको **पारिणामिकभाव** कहते हैं॥१॥

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ॥ २ ॥

अर्थ–इन पांच भावोंके (यथाक्रमं) क्रमसे (द्विनवाष्टा-दशैकविंशतित्रिभेदाः) दो, नौ, अठारह, इक्कीस और तीन भेद हैं। अर्थात् औपशमिकभाव दो प्रकारके हैं, क्षायिकभाव नौ प्रकारके हैं, मिश्रभाव अठारह प्रकारके हैं, औदयिकभाव इक्कीस-प्रकारके हैं और पारिणामिकभाव तीन प्रकारके हैं॥ २ ॥

सम्यक्त्वचारित्रे ॥ ३ ॥

अर्थ–औपशमिकसम्यक्त्व और औपशमिकचारित्र ये दो भेद

---

१ यह मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी क्रोध

औपशमिकभावके हैं ॥ ३ ॥

ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ॥ ४ ॥

अर्थ-(ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि) केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिकवीर्य (च) और चकारसे क्षायिकसम्यक्त्व तथा क्षायिकचारित्र ये नौ क्षायिकभाव हैं ॥ ४ ॥

ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपंचभेदाः
सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च ॥ ५ ॥

अर्थ-(ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयःचतुस्त्रित्रिपंचभेदाः) मति श्रुत अवधि मनःपर्यय ये चार ज्ञान, कुमति, कुश्रुत, कुअवधि ये तीन अज्ञान (कुज्ञान), चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन ये तीन दर्शन, क्षायोपशमिकदान क्षायोपशमिकलाभ क्षायोपशमिकभोग क्षायोपशमिक उपभोग और क्षायोपशमिक वीर्य ये पांच लब्धि (च) और (सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाः) वेदकसम्यक्त्व, सरागचारित्र और संयमासंयम (देशव्रत) इसप्रकार अठारह भाव क्षायोपशमिक हैं। ये सब ही भाव, आत्मामें कर्मोंके क्षयोपशमसे होते हैं ॥ ५ ॥

गतिकषायलिंगमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयता-
सिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः ॥ ६ ॥

अर्थ-मनुष्यगति देवगति नरकगति और तिर्यंचगति ये ४ गति,

मान माया लोभ इन सात प्रकृतियोंके उपशमसे होता है। यह सादिमिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा कथन है। अनादिमिथ्यादृष्टिके सम्यक्त्व और सम्यङ्मिथ्यात्व जुदे नहीं रहते इसलिये वह पांच प्रकृतियोंके उपशमसे होता है।

क्रोध मान माया लोभ ये ४ कषाय, स्त्रीवेद पुंवेद नपुंसकवेद ये ३ लिंग, मिथ्यादर्शन १, अज्ञान १, असंयम १, असिद्धत्व[1] १, कृष्ण नील कापोत पीत पद्म शुक्ल ये ६ लेश्या, इसप्रकार इक्कीस भाव औदयिक हैं ॥ ६ ॥

जीवभव्याभव्यत्वानि च ॥ ७ ॥

अर्थ-(च) और (जीवभव्याभव्यत्वानि) जीवत्व भव्यत्व अभव्यत्व ये तीन ऐसे भाव हैं जो जीवके पारिणामिकभाव अन्य द्रव्यसे असाधारण हैं ॥ ७ ॥

इसप्रकार जीवके सब मिलाकर ५३ भाव हैं। अब आगे जीवका लक्षण कहते हैं:—

उपयोगो लक्षणम् ॥ ८ ॥

अर्थ-जीवका (लक्षणम्) लक्षण[2] (उपयोगः) उपयोग है। उपयोग आत्माके चैतन्यस्वभावको कहते हैं। इसीको आत्माका परिणाम परिणमन परिणति वा उपयोग कहते हैं ॥ ८ ॥

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥ ९ ॥

अर्थ- (सः) वह उपयोग (द्विविधः) मूलमें दोप्रकारका है, एक ज्ञान दूसरा दर्शन। फिर वह दोप्रकारका उपयोग क्रमसे (अष्टचतुर्भेदः) आठ और चार प्रकारका है अर्थात् ज्ञानोपयोगके १ मति, २ श्रुत, ३ अवधि, ४ मनःपर्यय, ५ केवल, ६ कुमति, ७

---

१ जबतक कर्मका कम या अधिक उदय है तबतकका भाव।

२ व्यतिकीर्णवस्तुव्यावृत्तिहेतुर्लक्षणम्—परस्पर मिली हुई वस्तुओंमें जो उनके भेदज्ञान करानेमें कारण है सो लक्षण है। जैसे अग्निका लक्षण उष्णपना और दंडीका लक्षण दंड।

कुश्रुत और ८ कुअवधि ऐसे आठ भेद हैं और दर्शनोपयोगके १ चक्षुर्दर्शन, २ अचक्षुर्दर्शन, ३ अवधिदर्शन तथा ४ केवलदर्शन ऐसे चार भेद हैं॥ ९॥

अब आगे जिनके उपर्युक्त ५३ भाव और उपयोग लक्षण बतलाये, उनके भेद कहते हैं:—

संसारिणो मुक्ताश्च ॥ १० ॥

अर्थ-वे जीव (संसारिणः) संसारी (च) और (मुक्ताः) मुक्त अर्थात् सिद्ध ऐसे दो प्रकारके हैं। जो कर्मसहित हैं, कर्मोंके वशीभूत हो नानाप्रकारके जन्म मरण करते हुए संसारमें भ्रमण करते रहते हैं उनको संसारी जीव कहते हैं। जो समस्त कर्मोंको छांटकर मुक्त हो गये हैं, उनको मुक्त जीव अथवा सिद्ध जीव कहते हैं॥ १० ॥

समनस्काऽमनस्काः ॥ ११ ॥

अर्थ—संसारी जीव समनस्क और अमनस्क दो प्रकारके हैं। जिनके मन होता है उनको समनस्क (सैनी) और जिनके मन नहीं होता है उनको अमनस्क (असैनी) कहते हैं ॥ ११ ॥

संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥ १२ ॥

अर्थ—(संसारिणः संसारी जीव (त्रसस्थावराः) त्रस और स्थावर दो प्रकारके हैं। द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रिय और पंचेंद्रिय जीवोंको त्रस कहते हैं और एकेंद्रिय जीवोंको स्थावर कहते हैं। १२

---

१ द्रव्यसंवरण, क्षेत्रसंवरण, कालसंवरण, भवसंवरण और भावसंवरण—रूप पांच प्रकारके संवरण वा भ्रमण हैं।

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः ॥ १३ ॥

अर्थ-(पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः) पृथिवीकायिक[1], अप्-कायिक, तेजकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ये पांच प्रकारके जीव (स्थावराः) स्थावर[2] हैं। इनके एक ही स्पर्शन इंद्रिय होती है। इनके दशप्राणोंमेंसे एक इंद्रियप्राण, कायबलप्राण, श्वासोच्छ्वासप्राण और आयुप्राण ये चार प्राण होते हैं ॥ १३ ॥

द्वींद्रियादयस्त्रसाः ॥ १४ ॥

अर्थ-(द्वींद्रियादयः) द्वींद्रियादिक जीव (त्रसाः[3]) त्रस कहाते हैं ॥ १४ ॥

पंचेंद्रियाणि ॥ १५ ॥

अर्थ-सब इंद्रियें पांच हैं ॥ १५ ॥

द्विविधानि ॥ १६ ॥

अर्थ-वे सब इंद्रियें दो दो प्रकारकी हैं एक द्रव्येंद्रिय दूसरी भावेंद्रिय ॥ १६ ॥

निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येंद्रियम् ॥ १७ ॥

अर्थ-(द्रव्येंद्रियं) द्रव्येंद्रिय (निर्वृत्त्युपकरणे) निर्वृत्ति-रूप और उपकरणरूप दो प्रकारकी हैं। नामकर्मके निमित्तसे जो इन्द्रियाकार रचनाविशेष हो, उसे निर्वृत्ति कहते हैं। निर्वृत्तिको जो सहायक हो, उसे उपकरण कहते हैं। निर्वृत्ति और उपकरण भी दो दो प्रकारके हैं। एक आभ्यंतरनिर्वृत्ति, दूसरी बाह्यनिर्वृत्ति।

---

१ पृथिवी ही है काय अर्थात् औदारिक शरीर जिनका वो पृथिवी-कायिक स्थावर जीव हैं। २ जीवविपाकी स्थावर नामकर्मके उदयसे स्थावर होते हैं। ३ जीवविपाकी त्रसनामकर्मके उदयसे त्रस होते हैं।

आत्माके प्रदेशोंका इंद्रियोंके आकाररूप होना वह **आभ्यंतर-निर्वृत्ति** है। पुद्गलपरमाणुओंकी इंद्रियरूप रचना होना वह **बाह्य-निर्वृत्ति** है। जैसे-नेत्र इन्द्रियमें नेत्र इन्द्रियके आकाररूप आत्माके जितने प्रदेश मसूरके समान फैले हैं वह आभ्यंतर निर्वृत्ति है और उसमें जितने पुद्गलपरमाणु मसूरके आकारमें परिणत हुए हैं वह बाह्यनिर्वृत्ति है। मसूरके आकाररूप नेत्रेन्द्रियके चारों ओर सफेद भाग, काला और बाफणी, पलक आदि **बाह्योपकरण** है। और इनके रूप जो आत्माके प्रदेश परिणमे हैं, वह **आभ्यंतर उपकरण** हैं। इसी प्रकार कर्ण आदि इन्द्रियोंमें भी जानना ॥ १७ ॥

लब्ध्युपयोगौ भावेंद्रियम् ॥ १८ ॥

अर्थ-(लब्ध्युपयोगौ) लब्धि और उपयोग ये दो **(भावेंद्रियम्)** भावेन्द्रिय हैं। जिसके होनेसे आत्मा द्रव्येन्द्रियकी रचनामें प्रवृत्ति करे, ऐसो ज्ञानावरणकर्मकी क्षयोपशमरूप शक्तिविशेषको **लब्धि** कहते हैं और क्षयोपशमलब्धिके निमित्तसे आत्माका विषयोंके प्रति परिणमन होनेसे जो आत्मामें ज्ञान उत्पन्न होता है वह **उपयोग** है। जैसे-कोई जीव सुनना तो चाहे परंतु सुननेकी क्षयोपशमरूप शक्ति नहीं हो, तो वह सुन नहीं सकेगा। इसलिये ज्ञानका कारण होनेसे लब्धिको इन्द्रिय माना है। उपयोग इन्द्रियका फल वा कार्य है, इसलिये कार्यमें कारणका उपचार किया गया है। अथवा इंद्रियें जिसप्रकार आत्माके परिचयकी हेतु हैं, उसीप्रकार उपयोग भी मुख्य हेतु है, इसकारण भी उपयोगको इंद्रिय कहा है ॥१८॥

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि ॥ १९ ॥

अर्थ-स्पर्शन (त्वचा), रसन (जीभ), घ्राण (नासिका),

चक्षु (नेत्र) और श्रोत्र (कान) ये पांच इंद्रियें[1] हैं ॥ १९ ॥

स्पर्शरसगंधवर्णशब्दास्तदर्थाः ॥ २० ॥

अर्थ-[स्पर्शरसगंधवर्णशब्दाः] स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द ये पांच [तदर्थाः] उक्त पांचों इंद्रियोंके विषय वा ज्ञेय हैं। स्पर्शन इंद्रियका विषय स्पर्श[2] अर्थात् छूना है । रसन इंद्रियका विषय रस[3] अर्थात् स्वाद लेना है । घ्राण इंद्रियका विषय सुगंधि दुर्गंधि सूंघना है । नेत्र इंद्रियका विषय रूप[4] (रंग) का देखना है और श्रोत्र इंद्रियका विषय शब्दका सुनना है ॥ २० ॥

श्रुतमनिंद्रियस्य ॥ २१ ॥

अर्थ-(श्रुतम्) श्रुतज्ञानगोचर पदार्थ (अनिंद्रियस्य) मनका विषय है ॥ २१ ॥

वनस्पत्यंतानामेकम् ॥ २२ ॥

अर्थ-(वनस्पत्यंतानाम्) वनस्पतिकाय है अंतमें जिनके उन जीवोंके अर्थात् पृथिवीकायिक, अप्कायिक अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक इन पांचों प्रकारके जीवोंके (एकम्) पहली स्पर्शन इंद्रिय ही है । अर्थात् ये पांच एकमात्र स्पर्शन इंद्रियके धारक एकेंद्रिय (स्थावर) जीव हैं ॥ २२ ॥

कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥ २३ ॥

अर्थ-(कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनां) लट, चींटी

---

१ ज्ञान करानेमें सहायक होनेसे ये पांच ज्ञानेंद्रिय हैं । २ शीत, उष्ण, रूक्ष, चिक्कण, कठोर, कोमल, हलका और भारी ये स्पर्शके आठ भेद हैं । ३ तिक्त, कटु, कषायला, खट्टा और मीठा ये पांच रस हैं । ४ श्वेत, हरित, लाल, पीत और कृष्ण ये पांच वर्ण हैं ।

भौंरा, मनुष्य आदिकके (एकैकवृद्धानि) क्रमसे एक एक इंद्रिय बढती हुई है। अर्थात् लट (गिंडार) वगैरहके स्पर्शन और रसन दो इंद्रियें हैं। चींटी वगैरहके स्पर्शन, रसन और घ्राण ये तीन इंद्रियें हैं। भौंरा आदि जीवोंके स्पर्शन, रसन, घ्राण और नेत्र ये चार इंद्रियें हैं। मनुष्य, देव, नारकी और गौ आदि पशुओंके पांच इंद्रियें हैं ॥ २३ ॥

संज्ञिनः समनस्काः ॥ २४ ॥

अर्थ- (समनस्काः) जो मनसहित हैं वे जीव (संज्ञिनः) संज्ञी हैं। जिन्हें अपने हित अहितका अथवा गुण दोषादिका विचार हो तथा शिक्षा, क्रिया, आलापके ग्रहण करने रूप संज्ञा हो, उनको संज्ञी पंचेंद्रिय कहते हैं ॥ २४ ॥

शंका—यदि जीव सदा मनसे ही हितादिकी प्राप्तिरूप प्रत्येक कर्म कर सकता है, तो विग्रहगतिमें जहां मन नहीं है, वहां नूतन शरीरके लिए किस प्रकार गमन करता है ? यह शंका दूर करनेके लिये सूत्र कहते हैं:-

विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥ २५ ॥

अर्थ- (विग्रहगतौ[1]) नया शरीर धारण करनेके लिये जो गति अर्थात् गमन होता है, उसमें (कर्मयोगः) कार्माणयोग है अर्थात् कार्माणयोगके सहारे ही जीव एक गतिसे दूसरी गतिमें गमन करता है ॥ २५ ॥

---

१ विग्रहाय शरीराय गतिर्गमनम्—नवीन शरीरके लिये जो गति है वह विग्रहगति कहाती है।

अनुश्रेणि गतिः ॥ २६ ॥

अर्थ-(गतिः) जीव और पुद्गलोंका गमन (अनुश्रेणि) आकाशके प्रदेशोंकी श्रेणीका अनुसरण करके होता है। श्रेणीको (प्रदेशोंकी पंक्तिको) छोडकर विदिशारूप गमन नहीं होता है। भावार्थ-मृत्यु होनेपर नवीन शरीर धारण करनेके लिए जीवोंका जो गमन होता है, वह आकाशके प्रदेशोंकी श्रेणीमें ही होता है, अन्य अवस्थामें श्रेणीरूप गमनका नियम नहीं है॥ २६ ॥

अविग्रहा जीवस्य ॥ २७ ॥

अर्थ-(जीवस्य) मुक्त जीवकी गति (अविग्रहा) वक्रतारहित (मोडे रहित) सीधी होती है अर्थात् मुक्त जीव एक समयमें सीधा सात राजू ऊंचा गमन करता हुआ सिद्धक्षेत्रमें चला जाता है-इधर उधर नहीं मुडता है ॥ २७ ॥

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ॥ २८ ॥

अर्थ-(च) और (संसारिणः) संसारी जीवकी गति (प्राक् चतुर्भ्यः) चार समयसे पहले [१] (विग्रहवती) विग्रहवती वा मोडेवाली है। भावार्थ- संसारी जीवकी गति एक समयमें तथा दो तीन समयमें भी होती है अर्थात् संसारी जीव पहले समयमें पहला मोडा, दूसरे समयमें दूसरा मोडा और तीसरे समय तीसरा मोडा लेकर चौथे समयमें किसी न किसी स्थानमें नवीन शरीर धारण कर लेता है ॥ २८ ॥

एकसमयाऽविग्रहा ॥ २९ ॥

अर्थ-(अविग्रहा) मोडारहित गति (एकसमया) एक

---

१ यहां विग्रह शब्दका अर्थ मोड व टेढ है।

समय मात्र ही होती है। उसको ऋजुगति भी कहते हैं ॥२९॥

एकं द्वौ त्रीन्वानाहारकः ॥ ३० ॥

अर्थ—विग्रहगतिवाला जीव (एकं) एक समयमें (द्वौ) दो समयमें (वा) तथा (त्रीन्) तीन समयमें (अनाहारकः) अनाहारक रहता है। औदारिक, वैक्रियिक, और आहारक इन तीन शरीरके और छह पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गलवर्गणाके ग्रहणको आहार कहते हैं। जीव जबतक ऐसे आहारको ग्रहण नहीं करता है, तब तक उसे **अनाहारक** कहते हैं। जीव बहुतसे बहुत विग्रहगतिमें तीन समय तक अनाहारक रहता है, चौथे समयमें शरीरपर्याप्तिको ग्रहण करके आहारक हो जाता है ॥ ३० ॥

संमूर्छनगर्भोपपादा जन्म ॥ ३१ ॥

अर्थ-(जन्म) नवीन शरीरका धारण (संमूर्छनगर्भोपपादाः) संमूर्च्छन, गर्भ और उपपाद ऐसा तीन प्रकारसे होता है। अर्थात संमूर्च्छनजन्म, गर्भजन्म और उपपाद जन्म ऐसे तीन प्रकारके जन्म हैं। तीन लोकमें भरे हुए चारों ओरके पुद्गल परमाणुओंसे अपने योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी विशेषताके अनुसार [माता-पिताके रजोवीर्यके मिलनेके विना ही] देहकी रचना होनेको **संमूर्छनजन्म** कहते हैं। स्त्रीके गर्भाशयमें माताके रज और पिताके वीर्यके संयोगसे जो जन्म होता है, उसे **गर्भजन्म** कहते हैं। मातापिताके रजोवीर्यके विना देव नारकियोंके स्थानविशेषमें जो जन्म होता है, उसे **उपपादजन्म** कहते हैं ॥ ३१ ॥

---

१ 'कालाध्वनोर्व्याप्तौ' १।२।१२१। शाक०। इससे निरंतर व्याप्त काल आधारमें द्वितीया विभक्ति है।

सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥ ३२ ॥

अर्थ-(सचित्तशीतसंवृताः) सचित्त, शीत, संवृत और (सेतराः) इनसे उलटी, अचित्त, उष्ण विवृत (च) और (मिश्राः) मिली हुई अर्थात् सचित्ताचित्त, शीतोष्ण और संवृतविवृत इस प्रकार (एकशः) क्रमसे (तद्योनयः) उन संमूर्च्छनादि जन्मोंकी नौ योनियां वा उत्पत्तिस्थान हैं। योनि दो प्रकारकी हैं, आकारयोनि और गुणयोनि। उनमेंसे यहांपर गुणयोनिकी अपेक्षा भेद कहे हैं। आकारयोनिके दूसरे तीन भेद हैं, शंखावर्त कूर्मोन्नत और वंशपत्र। इनमेंसे शंखावर्त योनिमें गर्भ नहीं ठहरता है। कूर्मोन्नत योनिमें तीर्थंकर, चक्री अर्द्धचक्री, बलभद्र तथा उनके भाइयोंके सिवाय कोई भी पैदा नहीं होता। वंशपत्रयोनिमें बाकीके गर्भजन्मवाले सब जीव पैदा होते हैं ॥ ३२ ॥

जरायुजांडजपोतानां गर्भः ॥ ३३ ॥

अर्थ-(जरायुजांडजपोतानां) जरायुज, अंडज और पोत इन तीन प्रकारके जीवोंका (गर्भः) गर्भजन्म है। जो जीव जालके समान मांस और रुधिरसे व्याप्त एक प्रकारकी थैलीमें लिपटे हुए पैदा होते हैं, वे जरायुज कहाते हैं। माताके रुधिर और पिताके वीर्यसे बने हुए, नखकी त्वचाके समान कठिन आवरणको अंडा कहते हैं और अंडेसे जो उत्पन्न होते हैं, उन्हें अंडज कहते हैं। जिनके ऊपर जरा या अंडा कुछ भी आवरण नहीं आता है, माताके उदरसे निकलते ही जो चलने फिरने लगते हैं, उन्हें पोत कहते हैं ॥ ३३ ॥

देवनारकाणामुपपादः ॥ ३४ ॥

अर्थ-(देवनारकाणाम्) चारप्रकारके देवोंका और नारकी

जीवोंका (उपपादः) उपपादजन्म होता है ॥ ३४ ॥

शेषाणां संमूर्च्छनम् ॥ ३५ ॥

अर्थ--(शेषाणां) शेषके अर्थात् गर्भ और उपपाद जन्मवालोंसे बाकी रहे हुए संसारी जीवोंका (संमूर्च्छनम्) संमूर्च्छनजन्म है ॥ ३५ ॥

औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि ॥ ३६ ॥

अर्थ--इन सब जीवोंके (शरीराणि) शरीर (औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि) औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्माण इस तरह पांच प्रकारके होते हैं। स्थूल अर्थात् इंद्रियोंसे दीखने योग्य शरीरको औदारिकशरीर कहते हैं। जिसमें अनेक प्रकारके स्थूल, सूक्ष्म, हलका, भारी इत्यादि आकार होनेकी योग्यता हो, उसे वैक्रियिकशरीर कहते हैं। सूक्ष्म पदार्थके निर्णयकेलिये वा संयम पालनेकेलिये प्रमत्तगुणस्थानवर्ती मुनियोंके शिरसे जो शरीर प्रगट होता है, उसे आहारकशरीर कहते हैं। जिससे शरीरमें तेज होता है, उसे तैजसशरीर कहते हैं। और ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके समूहको कार्माणशरीर कहते हैं ।३६।

परंपरं सूक्ष्मम् ॥ ३७ ॥

अर्थ--(परंपरं) औदारिकसे अगले अगले शरीर (सूक्ष्मम्) सूक्ष्म हैं अर्थात् औदारिकसे वैक्रियिक सूक्ष्म है, वैक्रियिकसे आहारक सूक्ष्म है, आहारकसे तैजस और तैजससे कार्माणशरीर सूक्ष्म है ॥ ३७ ॥ किन्तु:-

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक्तैजसात् ॥ ३८ ॥

अर्थ--(प्रदेशतः) प्रदेशों[1] की अपेक्षा (तैजसात् प्राक्)

१ यहां प्रदेश शब्दका अर्थ परमाणु है ।

तैजसशरीरसे पहले पहलेके शरीर (असंख्येयगुणं) असंख्यात-गुणे हैं अर्थात् औदारिकशरीरमें जितने परमाणु हैं उनसे असंख्यातगुणे परमाणु वैक्रियिकशरीरमें हैं और वैक्रियिकशरीरसे असंख्यात-गुणे परमाणु आहारकशरीरमें हैं ॥ ३८ ॥

अनंतगुणे परे ॥ ३९ ॥

अर्थ-(परे) शेषके दो शरीर अर्थात् तैजस और कार्मण-शरीर (अनंतगुणे) अनंतगुणे परमाणुवाले हैं अर्थात् आहारक-शरीरसे अनंतगुणे परमाणु तैजसशरीरमें हैं और तैजससे अनंतगुणे परमाणु कार्मणशरीरमें हैं ॥ ३९ ॥

अप्रतीघाते ॥ ४० ॥

अर्थ-और ये दोनों तैजस और कार्मणशरीर अप्रतीघात हैं अर्थात् अन्य मूर्तिमान् पुद्गलादिकोंसे रुकते नहीं हैं। जैसे-अग्निके परमाणु सूक्ष्मरूप परिणमन होनेके कारण लोहेके पिंडमें प्रवेश कर जाते हैं उसी प्रकार तैजस और कार्मणशरीर भी वज्रमय पटलोंतकसे नहीं रुकते हैं और न किसी अन्य पदार्थको रोक ही सकते हैं। ४०

अनादिसंबंधे च ॥ ४१ ॥

अर्थ-ये दोनों शरीर आत्माके साथ (अनादिसंबंधे) अ-नादि कालसे संबंध रखनेवाले हैं अर्थात् संसारी जीवोंके ये दोनों शरीर नित्य ही साथ रहते हैं। (च) यदि सन्तानकी विवक्षा न ली जाय तो सादि सम्बन्धवाले भी हैं ॥ ४१ ॥

सर्वस्य ॥ ४२ ॥

अर्थ-ये दोनों शरीर समस्त संसारी जीवोंके हैं ॥ ४२ ॥

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्या चतुर्भ्यः ॥ ४३ ॥

अर्थ-(तदादीनि) इन दोनों शरीरोंको आदि लेकर (भाज्यानि) विभाजित किये हुए (एकस्य) एक जीवके (युगपत्) एक साथ (आ चतुर्भ्यः) चार शरीर[1] तक होते हैं। अर्थात् दो शरीर हों तो तैजस और कार्माण होते हैं। तीन हों तो औदारिक, तैजस और कार्माण होते हैं अथवा वैक्रियिक, तैजस और कार्माण ये तीन होते हैं। परंतु ये देव तथा नरक गतिमें ही होते हैं। यदि किसीके एक साथ चार शरीर हों तो औदारिक, आहारक, तैजस और कार्माण होते हैं ॥ ४३ ॥

निरुपभोगमन्त्यम् ॥ ४४ ॥

अर्थ-(अन्त्यम्) अंतका कार्माणशरीर (निरुपभोगम्) उपभोगरहित अर्थात् इंद्रियों द्वारा शब्दादिक विषयोंके उपभोगसे रहित है ॥ ४४ ॥

गर्भसंमूर्च्छनजमाद्यम् ॥ ४५ ॥

अर्थ-(गर्भसमूर्च्छनजम्) जो गर्भजन्म और संमूर्च्छन जन्मसे उत्पन्न होता है, वह (आद्यं) आदिका अर्थात् औदारिक शरीर है ॥ ४५ ॥

औपपादिकं वैक्रियिकम् ॥ ४६ ॥

अर्थ-(औपपादिकम्) जो उपपादजन्मसे होता है वह (वैक्रियिकम्) वैक्रियिकशरीर है ॥ ४६ ॥

---

१ जिसके वैक्रियिक होता है उसके आहारक नहीं होता और जिसके आहारक होता है उसके वैक्रियिक नहीं होता। इस कारण एक जीवके एक समयमें पांच शरीर होना असंभव है। एवं एक शरीरवाला भी कोई जीव नहीं होता।

लब्धिप्रत्ययं च ॥ ४७ ॥

अर्थ—वैक्रियिकशरीर लब्धिप्रत्ययं च लब्धिसे अर्थात् तपोविशेषरूप ऋद्धिकी प्राप्तिके निमित्तसे भी होता है ॥ ४७ ॥

तैजसमपि ॥ ४८ ॥

अर्थ—(अपि) तथा (तैजसम्) तैजसशरीर भी लब्धि-प्रत्यय अर्थात् ऋद्धि होनेसे प्राप्त होता है ॥ ४८ ॥

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ॥ ४९ ॥

अर्थ—(आहारकं) आहारकशरीर (शुभं) शुभ है अर्थात् शुभ कार्यको पैदा करता है, (विशुद्धं) विशुद्ध है अर्थात् विशुद्ध कर्मका कार्य है (च) और (अव्याघाति) व्याघातरहित है तथा (प्रमत्तसंयतस्य एव) प्रमत्तसंयतमुनिके ही होता है ॥ ४९ ॥

नारकसंमूर्च्छिनो नपुंसकानि ॥ ५० ॥

अर्थ—(नारकसंमूर्च्छिनः) नारकी और संमूर्छन जीव (नपुंसकानि) नपुंसक ही होते हैं ॥ ५० ॥ किंतु—

न देवाः ॥ ५१ ॥

अर्थ—(देवाः) चारों प्रकारमें कोई भी देव नपुंसक (न) नहीं हैं अर्थात् देवोंमें स्त्रीवेद और पुरुषवेद दो ही होते हैं, नपुंसक नहीं होता हैं ॥ ५१ ॥

शेषास्त्रिवेदाः ॥ ५२ ॥

---

१ तैजस शरीर दो प्रकारका है, भिन्नतैजस और अभिन्नतैजस। इनमेंसे यहां भिन्नतैजस ही ग्रहण करना चाहिये। वह शुभ और अशुभ दो तरहका होता है। अभिन्नतैजस संसारी मात्रके होता है।

२ अढाई द्वीपभरमें।

अर्थ–(शेषाः) नारकी, देव और संमूर्छनोंके अतिरिक्त गर्भज तिर्यंच और मनुष्य (त्रिवेदाः) तीनो वेदवाले अर्थात् पुरुष, स्त्री और नपुंसक भी होते हैं ॥ ५२ ॥

औपपादिकचरमोत्तमदेहाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ॥५३

अर्थ–(औपपादिकचरमोत्तमदेहाऽसंख्येयवर्षायुषः) देव, नारकी, चरमोत्तमदेही[1] और असंख्यातवर्षकी आयुवाले ऐसे भोगभूमीके जीव (अनपवर्त्यायुषः[2]) परिपूर्ण आयु भोगनेवाले ही होते हैं। अर्थात् किसी भी कारणसे न्यून आयु होकर उनकी अकालमृत्यु नहीं होती है ॥ ५३ ॥

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

तृतीय अध्याय ।

जीव पदार्थके कथनमें उसके निजतत्त्व बतलाये जा चुके। अब उसके रहनेके स्थान जो तीन लोक हैं उनमेंसे पहले अधःलोकका वर्णन करते हैं;—

रत्नशर्करावालुकापंकधूमतमोमहातमःप्रभा भूमयो
घनांबुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताऽधोऽधः ॥ १ ॥

अर्थ–(रत्नशर्करावालुकापंकधूमतमोमहातमःप्रभाः) रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, और महातमःप्रभा ये (सप्त) सात (भूमयः) भूमियाँ हैं और (अधोऽधः) क्रमसे एकके नीचे दूसरी, दूसरीके नीचे तीसरी

---

१ अंतकी उत्कृष्ट देह धारण करनेवाले अर्थात् उसी भवमें मोक्ष जानेवाले उत्तम तीर्थंकरादि । २ अपवर्त्य नाम घटने योग्यका है। नहीं घटने योग्य है आयु जिनकी वे अनपवर्त्यायु कहाते हैं।

इसप्रकार नीचे नीचे हैं और वे (**घनांबुवाताकाशप्रतिष्ठाः**) तीन वातवलय तथा आकाशके आश्रय स्थिर हैं अर्थात् समस्त भूमियाँ घनोदधि वातवलयके आधारपर हैं; घनोदधिवातवलय घनवातवलयके आधारपर है; घनवातवलय तनुवातवलयके आधारपर है और तनुवातवलय आकाशके आधारपर है ॥ १ ॥

विशेष-रत्नप्रभा नामकी पृथ्वी एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी है। उसमें ऊपरसे नीचेतक तीन भाग हैं। पहला सोलह हजार योजन मोटा ऊपरका **खरभाग** है। उसमें चित्रा, वज्रा, वैडूर्य इत्यादि एक एक हजार योजनकी मोटी सोलह पृथिवीं है। उनमेंसे ऊपर नीचेकी एक एक हजार योजनकी दो पृथिवी छोडकर बीचकी चौदह हजार योजन मोटी और एकराजु लंबी चौडी पृथिवीमें किंनर, किंपुरुष, महोरग, गंधर्व, यक्ष, भूत और पिशाच इन सात प्रकारके व्यंतर देवोंके तथा नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार इन नौप्रकार भवनवासी देवोंके निवासस्थान हैं। खरभागके नीचे

---

१ इस सूत्रमें जो 'वात' शब्द आया है, वह व्याकरणके नियमके अनुसार समासांत है। दो 'वात' शब्दोंका समास होकर उनमेंसे एकका लोप हो गया है—"वातश्च वातश्च वातौ"। इससे घनांबुवात (घनोदधिवात) और घनवात समझना। और 'घन' शब्द सामान्य है इसलिए इसका विशेष तनुवात भी समझना। इस तरह 'घनांबुवात' पदसे घनोदधिवात, घनवात और तनुवात ये तीन वातवलय समझना।
२ पृथिवियोंके रत्नप्रभादिक नाम गुणोंके अनुसार हैं, रूढ नाम घम्मा वंशा, मेघा, अंजना, अरिष्टा, मघवी और माघवी हैं। ३ यहां एक योजन दो हजार कोशका समझना चाहिये।

चौरासी हज़ार योजन मोटा पंकभाग है। उसमें असुरकुमार और राक्षसोंके निवासस्थान हैं। पंकभागके नीचे अस्सी हजार योजन मोटा अब्बहुल भाग है, उसमें प्रथम नरक है। उसके नीचे एक एक राजुका अन्तराल छोडकर शर्कराप्रभादि नरक पृथिवी हैं। उन सबोंमें नारकियोंके रहनेके बिल अर्थात् निवासस्थान हैं॥ १ ॥

वे बिल कौन कौनसी पृथिवीमें कितने कितने हैं, यह बतानेके लिये सूत्र कहते हैं;—

तासु त्रिंशत्पंचविंशतिपंचदशदशत्रिपंचोनैकनरकशतसहस्राणि पंच चैव यथाक्रमम्॥ २॥

अर्थ—(तासु) उन रत्नप्रभादि सातो पृथिवियोंमें (यथाक्रमं) क्रमसे(त्रिंशत्पंचविंशतिपंचदशदशत्रिपचोनैकनरकशतसहस्राणि) तीस लाख, पच्चीस लाख, पंद्रह लाख, दश लाख, तीन लाख, पांच कम एक लाख (च) और (पंच एव) केवल पांच नरक हैं। अर्थात् प्रथम पृथिवीमें तीस लाख, दूसरी पृथिवीमें पच्चीस लाख, तीसरीमें पंद्रह लाख, चौथीमें दश लाख, पांचवींमें तीन लाख, छट्ठीमें पांच कम एक लाख, और सातवींमें पांच ही नरक हैं। ये नरक (बिले) गोल, त्रिकोण, चौकोण इत्यादि अनेक प्रकारके हैं और उनमें कई तो संख्यात योजनके और कई असंख्यात योजनके लंबे चौडे हैं। बिलोंके अन्तरालमें प्रत्येक बिल के चारों ओर पृथिवीस्कंध हैं। जैसे—ढोलको पृथिवीमें गाढ देनेसे चारों तरफ पृथिवी रहती है और भीतर पोल रहती है उसी प्रकार से पृथिवीस्कन्धोंके बीचमें ढोलके भीतरकी पोलके समान ये बिल होते हैं॥ २॥

नारका नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः ॥ ३ ॥

अर्थ–(नारकाः) नारकी जीव (नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः) सदा ही अशुभतर लेश्यावाले, अशुभतर परिणामवाले, अशुभतर देहके धारक, अशुभतर वेदनावाले और अशुभतर विक्रिया करनेवाले होते हैं। निरंतर अशुभ कर्मका उदय रहनेके कारण उनके परिणाम आदि सदा अशुभ ही रहते हैं ।३।

परस्परोदीरितदुःखाः ॥ ४ ॥

अर्थ–नारकी जीव परस्पर एक दूसरेको दुःख उत्पन्न करते रहते हैं। अर्थात् कुत्तोंकी तरह निरंतर परस्पर लडते झगडते रहते हैं ॥ ४ ॥

संक्लिष्टाऽसुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥ ५ ॥

अर्थ–(च) तथा वे नारकी जीव (प्राक् चतुर्थ्याः) चौथे नरकसे पहले अर्थात् पहले, दूसरे, तीसरे तीन नरक पर्यंत (संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाः) अंबांवरीष आदि जातिके संक्लिष्ट परिणामवाले असुरोंके द्वारा भी दुःखी किये जाते हैं। अर्थात् जिस प्रकार इस लोकमें अनेक अज्ञानी पुरुष मेंढे, भैंसे, हाथियोंको मद्य पिलाकर परस्पर लडाते हैं और उनकी हार जीतसे आनंद मनाते हैं वा तमाशा देखते हैं, उसी प्रकार तीसरे नरक तकके नारकी जीवोंको दुष्ट कौतुकी देव अवधिज्ञानसे उनके पूर्व वैरोंका स्मरण

---

१ 'नरान् जीवान् कायतीति नरकस्तत्र भवाः नारकाः' जिसके स्पर्श करनेसे जीव रोने चिल्लाने लग जाते हैं वे नरक हैं। और उनमें जो पैदा होते हैं वे नारकी कहलाते हैं। २ उदीरितदुःखाः। उदीरित दिया गया है दुःख जिनको ऐसे।

कराकर परस्परमें लडाते तथा दुःखित करते रहते हैं और आप तमाशा देखते हैं ॥ ५ ॥

तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंश-
त्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः ॥ ६ ॥

अर्थ (तेषु) उन नरकोंमें रहनेवाले (सत्त्वानां) नारकी जीवोंकी (परा) उत्कृष्ट–वडीसे वडी (स्थितिः) आयु (एक-त्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा) पहले नरकमें एक सागरकी, दूसरे नरकमें तीन सागरकी, तीसरे नरकमें सात सागरकी, चौथे नरकमें दश सागरकी, पांचवेंमें सत्रह सागरकी, छट्ठेमें बाईस सागरकी और सातवें नरकमें तेतीस सागरकी है ॥६

अब मध्यलोकका वर्णन करते हैं:–

जंबूद्वीपलवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥ ७ ॥

अर्थ -इस चित्रा पृथिवीपर (जंबूद्वीपलवणोदादयः) जंबू-द्वीपादिक तथा लवणसमुद्रादिक (शुभनामानः) उत्तम उत्तम नाम-वाले (द्वीपसमुद्राः) द्वीप और समुद्र हैं।

विशेष–सबके वीचमें जंबूद्वीप है, उसके चारों तरफ लवण-समुद्र है, उसके चारों तरफ धातकीखंडद्वीप है, उसके चारों तरफ कालोदधिसमुद्र है, उस (कालोदधिसमुद्र) के चारों ओर पुष्कर-वर द्वीप है और उसके चारों ओर पुष्करवरसमुद्र है। इसीप्रकार एक दूसरेको वेढे हुए अंतके स्वयंभूरमणसमुद्रपर्यंत असंख्यात द्वीप और असंख्यात ही समुद्र हैं ॥ ७ ॥

द्विर्द्विर्विष्कंभाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥ ८ ॥

अर्थ–प्रत्येक द्वीप और समुद्र (वलयाकृतयः) गोल कडेके

आकार (पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणः) पहले पहले द्वीप या समुद्रको घेरे हुए (द्विर्द्विर्विष्कंभाः) एक दूसरेसे दूने दूने विस्तारवाले हैं। अर्थात् जंबूद्वीपसे दूनी चौडाईका लवणसमुद्र है, लवणसमुद्रसे दूना धातकीद्वीप है, धातकीद्वीपसे दूना कालोदधिसमुद्र है और कालोदधिसमुद्रसे दूना पुष्करवरद्वीप है। इसी प्रकार अगले अगले द्वीप समुद्र भी दूने दूने हैं ॥ ८ ॥

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कंभो जंबूद्वीपः ॥९॥

अर्थ–(तन्मध्ये) उन सब द्वीपसमुद्रोंके बीचमें (मेरुनाभिः) सुमेरु पर्वत है नाभि[1] जिसकी ऐसा, और (वृत्तः) गोलाकार, तथा (योजनशतसहस्रविष्कंभः) एक लाख योजन[2] लंबा चौडा (जंबूद्वीपः) जंबूद्वीप है। जंबूद्वीपकी परिधि, तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताईस योजन, तीन कोश, एक सौ अट्ठाईस धनुष, और तेरह अंगुलोंसे कुछ अधिक है ॥९॥

भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ॥१०॥

अर्थ–इस जंबूद्वीपमें (भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः) भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत ये सात (क्षेत्राणि) क्षेत्र हैं ॥ १० ॥

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः ॥ ११ ॥

अर्थ–(तद्विभाजिनः) उक्त सातों क्षेत्रोंका विभाग करनेवाले, (पूर्वापरायताः) पूर्व पश्चिम लंबे (हिमवन्महाहिमवन्निषध-

---

१ सबके बीचमें सुमेरु पर्वत है, इसलिये उसको नाभिकी उपमा दी गई है। २ यहां भी दो हजार कोशका योजन समझना चाहिये।

नीलरुक्मिशिखरिणः) हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी ये छह (वर्षधरपर्वताः) क्षेत्रोंको धारण करनेवाले अर्थात् विभाग करनेवाले पर्वत हैं। पहले भरतक्षेत्र और हैमवतक्षेत्रके बीचमें हिमवान् या हिमाचल पर्वत है। इसीप्रकार सातों क्षेत्रोंके बीचमें छह पर्वत हैं, जो षट्कुलाचल या कुलपर्वत कहाते हैं ॥ ११ ॥

हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहेममयाः ॥ १२ ॥

अर्थ–हिमवान्पर्वत सुवर्णमय और पीतवर्णका है। महाहिमवान्पर्वत चांदीका, सफेद रंगवाला है। तीसरा निषधपर्वत ताये सुवर्णके समान सुवर्णका बना है। चौथा नीलपर्वत वैडूर्यमय और मयूरके कंठके समान नीले रंगका है। पांचवां रुक्मीपर्वत चांदीका और शुक्ल वर्ण है। और छठा शिखरीपर्वत सोनेका और पीत वर्ण है ॥ १२ ॥

मणिविचित्रपार्श्वा उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः ॥ १३ ॥

अर्थ- (मणिविचित्रपार्श्वाः) जिनके पार्श्वभाग अर्थात् अगल बगल नानाप्रकारके रंगवाले और प्रभावाले मणियोंसे विचित्र हो रहे हैं और (उपरि मूले) ऊपर नीचे (च) तथा मध्यमें भी जो (तुल्यविस्ताराः) एकसे चौड़े, दीवालके समान हैं। ऐसे ये छहों पर्वत हैं ॥ १३ ॥

---

१ हिमालय भरत क्षेत्रके भीतर इनमेंसे दूसरा है।

२ इस सूत्रके अंतमें जो 'मय' शब्द है उसके अर्थ दो हो सकते हैं, एकसे यह मालूम होता है कि ये पर्वत, सोने चांदी आदिके हैं और दूसरेसे यह कि ये सोने चांदी आदिके रंगोंके समान रंगवाले हैं इन दोनों अर्थोंमेंसे हमारी समझमें पहला अर्थ लेना चाहिये। 'सर्वार्थ-टीकासे भी ऐसा ही अर्थ प्रगट होता है।

पद्ममहापद्मतिगिंछकेशरिमहापुंडरीकपुंडरीका
ह्रदास्तेषामुपरि ॥ १४ ॥

अर्थ-(तेषाम्) उन पर्वतोंके (उपरि) ऊपर (पद्ममहापद्मतिगिंछकेशरिमहापुंडरीकपुंडरीकाः) पद्म, महापद्म, तिगिंछ, केशरी, महापुंडरीक और पुंडरीक ये छह (ह्रदाः) ह्रद अर्थात् सरोवर हैं। भावार्थ—हिमवान्पर्वतपर पद्म नामका ह्रद है, महाहिमवान्पर महापद्म है, निषधपर तिगिंछ है, नीलपर केशरी है, रुक्मीपर महापुंडरीक है और शिखरीपर्वतपर पुंडरीक ह्रद है ॥ १४ ॥

प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदर्द्धविष्कंभो ह्रदः ॥ १५ ॥

अर्थ—इनमेंसे (प्रथमः) पहला (ह्रदः) तालाव (योजनसहस्रायमाः) पूर्व पश्चिम एक हजार योजन लंबा है और (तदर्द्धविष्कंभः) उससे आधा—पांच सौ योजन उत्तर दक्षिण चौडा है ॥ १५ ॥

दशयोजनावगाहः ॥ १६ ॥

अर्थ—वह पद्महृद दश योजन गहरा है ॥ १६ ॥

तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥ १७ ॥

अर्थ—(तन्मध्ये) उसके बीचमें (योजनं) एक योजनका लंबा चौडा (पुष्करम्) कमल है ॥ १७ ॥

तद्द्विगुणद्विगुणा ह्रदाः पुष्कराणि च ॥ १८ ॥

अर्थ—(तद्द्विगुणद्विगुणाः) उस पहले तलाव और कमलसे दूने दूने लंबे चौडे अगले अगले (ह्रदाः) तलाव (च) और (पुष्कराणि) कमल हैं। भावार्थ—पद्मह्रदसे दूना महापद्म ह्रद है और महापद्मसे दूना तिगिंछ ह्रद है। इन तीनों ह्रदोंके

बराबर ही उत्तर तरफसे तीनों पर्वतोंके तीनों ह्रद हैं तथा तीनों ह्रदोंके कमलोंके बराबर तीनो कमल हैं ॥ १८ ॥

तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः
पल्योपमस्थितयः ससामानिकपरिषत्काः ॥१९॥

अर्थ- (तन्निवासिन्यः) उक्त छहों कमलोंमें रहनेवाली (श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः) श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, और लक्ष्मी नामकी छह (देव्यः) देवियां हैं जो कि (पल्योपमस्थितयः) एक पल्यकी बराबर आयुष्यवाली और (ससामानिकपरिषत्काः) सामानिक तथा पारिषद जातिके देवोंसहित निवास करती हैं। भावार्थ, सरोवरके ऊपर कहे हुए ये कमल रत्नोंके बने हैं और उनकी कर्णिकाओंमें अतिशय उज्वल महल बने हुए हैं, जिनमें ये श्री, ह्री आदि छह देवियां रहती हैं। सरोवरोंमें चारों ओर इन कमलोंकी आधी ऊंचाईके और भी अनेक रत्नमयी कमल हैं, जिनमें रत्नमयी महल हैं और उनमें देवियोंके परिवारके सामानिक और पारिषद जातिके देव रहते हैं ॥ १९ ॥

गंगासिंधुरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकांतासीतासीतोदानारीनरकांतासुवर्णरूप्यकूलारक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः ॥ २०॥

अर्थ-(तन्मध्यगाः) उक्त सातों क्षेत्रोंमें बहनेवाली (गंगासिंधुरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकांतासीतासीतोदानारीनरकांतासुवर्णरूप्यकूलारक्तारक्तोदाः) गंगा, सिंधु, रोहित्, रोहितास्या,

---

१ 'समाने भवाः' जो एकसे ऐश्वर्यके धारण करनेवाले हों वे सामानिक हैं। 'परिषदि प्रधानाः' सभामें जो प्रधान हों वे परिषत्क अर्थात् सभासद कहलाते हैं।

हरित्, हरिकांता, सीता, सीतोदा, नारी, नरकांता, सुवर्णकूला, रूप्यकूला, रक्ता, रक्तोदा ये चौदह (सरितः) नदियां है, जो उक्त छहों सरोवरोंसे निकली हुई हैं। इनमेंसे पहले पद्मह्रद और अन्तके पुंडरीक ह्रदमेंसे आदि अन्तकी तीन तीन अर्थात् छह नदियां निकली हैं और बीचके चार ह्रदोंमेंसे दो दो नदियां निकली हैं। वे भरतक्षेत्रमें गंगा और सिंधु, हैमवतक्षेत्रमें रोहित और रोहितास्या, हरिक्षेत्रमें हरित और हरिकांता, विदेहक्षेत्रमें सीता और सीतोदा, रम्यकक्षेत्रमें नारी और नरकांता, हैरण्यवतक्षेत्रमें सुवर्णकूला और रूप्यकूला, और ऐरावतक्षेत्रमें रक्ता और रक्तोदा इस प्रकार दो दो नदियां एक एक क्षेत्रमें वहती है ॥ २० ॥

द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥ २१ ॥

अर्थ– एक एक क्षेत्रमें जो दो दो नदियां बहती हैं, उन (द्वयोः द्वयोः) दो दो नदियोंके सात युगलोंमेंसे (पूर्वाः) पहली पहली नदियां (पूर्वगाः) पूर्व समुद्रमें जानेवाली हैं।

भावार्थ–गंगा, रोहित, हरित, सीता, नारी, सुवर्णकूला, और रक्ता ये सात नदियां पूर्वके समुद्रमें जाकर मिलती हैं ॥ २१ ॥

शेषास्त्वपरगाः ॥ २२ ॥

अर्थ–(तु) किंतु (शेषाः) शेषकी सात नदियां अर्थात् सिंधु, रोहितास्या, हरिकांता, सीतोदा, नरकांता, रूप्यकूला और रक्तोदा ये सात नदियां (अपरगाः) पश्चिम समुद्रमें जाकर मिलती हैं

चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गंगासिंध्वादयो नद्यः ॥ २३ ॥

अर्थ– (गंगासिंध्वादयः) गंगा सिंधु आदिक (नद्यः) नदियां (चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृताः) चौदह २ हजार नदियोंके

परिवार सहित हैं। अर्थात् गंगामें छोटी छोटी चौदह हजार नदियां आकर मिली हैं। इसी प्रकार सिंधुमें भी चौदह हजार नदियां मिली हैं। रोहित् और रोहितास्याकी परिवार नदियां अट्ठाईस २ हजार हैं। हरित् और हरिकांताकी छप्पन २ हजार हैं। सीता और सीतोदाकी चौरासी चौरासी हजार हैं। यह विशेष है। इससे उत्तरके तीन क्षेत्रोंकी क्रमसे दक्षिणके तीन क्षेत्रोंके समान परिवार-नदियां हैं—अर्थात् नारी और नरकांता की छप्पन २ हजार, सुवर्ण-कूला और रूप्यकूलाकी अट्ठाईस २ हजार, रक्ता और रक्तो-दाकी चौदह २ हजार परिवार नदियां हैं ॥ २३ ॥

भरतः षड्विंशपंचयोजनशतविस्तारः षट् चैकोनविंश-तिभागा योजनस्य ॥ २४ ॥

अर्थ—[भरतः] भरतक्षेत्र [षड्विंशपंचयोजनशत-विस्तारः] दक्षिण उत्तरमें पांच सौ छब्बीस योजन (च) और (योजनस्य) एक योजनके (एकोनविंशतिभागाः) उन्नीस भागोंमेंसे (षट्) छह भाग अर्थात् $\frac{6}{19}$ योजन अधिक विस्तारवाला है। कुल विस्तार ५२६ $\frac{6}{19}$ योजन है ॥ २४ ॥

तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहांताः ॥ २५ ॥

अर्थ—(विदेहांताः) विदेहक्षेत्र तकके (वर्षधरवर्षाः)

---

१ सूत्रमें 'नदी शब्दका प्रयोग दो बार आनेसे १८ वें सूत्रके द्विगुण-द्विगुणाः पदकी अनुवृत्ति समझना चाहिये इसीसे गंगा, सिंधुसे रोहित, रोहितास्या आदिकी दूनी २ सहायक नदियां कही हैं। और 'उत्तरा दक्षिणतुल्याः' सूत्रके अनुसार उत्तर दक्षिणकी रचना एकसी समझना चाहिये।

पर्वत और क्षेत्र (तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा:) उस भरतक्षेत्रसे दूने दूने विस्तारवाले हैं ॥ २५ ॥

उत्तरा दक्षिणतुल्याः ॥ २६ ॥

अर्थ—(उत्तरा:) विदेहक्षेत्रसे उत्तरके तीन पर्वत और तीन क्षेत्र (दक्षिणतुल्याः) दक्षिणके पर्वतों और क्षेत्रोंके बराबर विस्तारवाले हैं ॥ २६ ॥

भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामु-
त्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ॥ २७ ॥

अर्थ (उत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्यां) उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी-रूप (षट्समयाभ्यां) छह कालोंसे [भरतैरावतयोः] भरत और ऐरावतक्षेत्रोंके मनुष्योंकी आयु, काय, भोगोपभोग, सम्पदा, वीर्य, बुद्धि आदिका [वृद्धिह्रासौ] बढना और घटना होता है। भावार्थ–उत्सर्पिणीके छह कालोंमें वृद्धि और अवसर्पिणीके छह कालोंमें दिनोंदिन घटी होती जाती है अवसर्पिण कालके १ सुषमसुषमा, २ सुषमा, ३ सुषमदु:षमा, ४ दु:षमसुषमा, ५ दु:षमा, और ६ दु:षमदु:षमा ऐसे छह भाग हैं। इसीप्रकार उत्सर्पिणीके भी १ दु:षमदु:षमा, २ दु:षमा, ३ दु:षमसुषमा, ४ सुषमदु:षमा, ५ सुषमा, और ६ सुषमसुषमा ये छह भाग हैं। अवसर्पिणीका काल दश कोडाकोडी सागरका है और उत्सर्पिणीकाल भी दश कोडाकोडी सागरका है। दोनों कालोंको मिलानेसे बीस कोडाकोडी सागरका एक कल्पकाल होता है। पहला सुषमसुषमा काल चार कोडा-कोडी सागरका होता है, दूसरा सुषमा[1] तीन कोडाकोडी सागरका,

---

१ 'सुषमा' और 'दु:षमा' शब्दों की जगहपर कोई कोई सुखमा और दुखमा शब्द भी कहते हैं। समाका अर्थ काल है।

तीसरा सुषमदुःषमा दो कोडाकोडी सागरका, चौथा दुःषमसुषमा व्यालीस हजार वर्ष कम एक कोडाकोडी सागरका, पांचवां दुःषमा इक्कीस हजार वर्षका और छट्ठा अतिदुःषमा भी इक्कीस हजार वर्षका होता है। इनमेंसे पहले तीन कालोंमें उत्तम मध्यम जघन्य भोगभूमिकीसी रचना व रीति होती है और शेषके तीन कालोंमें कर्मभूमिकीसी होती है। अवसर्पिणीके इन कालोंमें क्रमसे आयु, काय आदि घटते रहते हैं और उत्सर्पिणीके कालोंमें बढते रहते हैं॥ २७॥

ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः ॥ २८ ॥

अर्थ-(ताभ्यां) उन भरत और ऐरावतके सिवाय (अपराः) अन्य पांच (भूमयः) पृथिवी (अवस्थिताः) ज्योंकी त्यों नित्य हैं अर्थात् उन भूमियोंमें वृद्धि ह्रास नहीं होता है ॥ २८ ॥

एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षक-
दैवकुरवकाः ॥ २९ ॥

अर्थ-(हैमवतकहारिवर्षकदैवकुरवकाः) हिमवान्क्षेत्रके, हरिक्षेत्रके और देवकुरुभोगभूमिके मनुष्यतिर्यंच क्रमसे (एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयः) एक, दो और तीन पल्यकी आयुवाले होते हैं ॥ २९ ॥

तथोत्तराः ॥ ३० ॥

अर्थ-(तथा) जैसे दक्षिणके क्षेत्रोंमें रचना है, उसीप्रकार (उत्तराः) उत्तरके क्षेत्रोंमें है। अर्थात् हैरण्यवतक्षेत्रमें हैमवतकके तुल्य रचना है, रम्यकक्षेत्रमें हरिक्षेत्रके तुल्य रचना है और उत्तरकुरुमें देवकुरुके समान रचना है।

इस प्रकार उत्तम मध्यम जघन्यरूप इन तीनों भोगभूमियोंके

दो दो क्षेत्र हैं। और पांच मेरुसंबंधी तीस भोगभूमी हैं ॥३०॥

विदेहेषु संख्येयकालाः ॥ ३१ ॥

अर्थ–(विदेहेषु) पांच मेरुसंबंधी पांचों विदेहक्षेत्रोंमें (संख्येयकालाः) संख्यात वर्षकी आयुवाले सब होते हैं ॥ ३१ ॥

भरतस्य विष्कंभो जंबूद्वीपस्य नवतिशतभागः ॥ ३२ ॥

अर्थ–(जंबूद्वीपस्य) एक लाख योजन विस्तारवाले जंबूद्वीपका (नवतिशतभागः) एक सौ नब्बेवां १९० भाग (भरतस्य) भरतक्षेत्रका (विष्कंभः) विस्तार है ॥ ३२ ॥

द्विर्धातकीखंडे ॥ ३३ ॥

अर्थ–(धातकीखंडे) धातकीखंड नामके दूसरे द्वीपमें (द्विः) भरतादि क्षेत्र दो दो हैं। यह धातकीखंड लवणसमुद्रको बेढे हुए चार लाख योजन चौडा है ॥ ३३ ॥

पुष्करार्धे च ॥ ३४ ॥

अर्थ– (पुष्करार्धे) पुष्करद्वीपके आधे भीतरी भागमें (च) भी भरतादि क्षेत्र जंबूद्वीपसे दूने हैं। पुष्करद्वीप सोलह लाख योजन चौडा है और उसके बीचमें एक हजार बाईस योजन चौडा एक मानुषोत्तर पर्वत है। मानुषोत्तरसे भीतरके अर्द्ध भागमें दो दो भरतादि क्षेत्रोंकी रचना है। आगे यह रचना नहीं है ॥ ३४ ॥

प्राक् मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥ ३५ ॥

अर्थ–(मानुषोत्तरात्) मानुषोत्तर पर्वतसे (प्राक्) पहले अढाईद्वीपमें (मनुष्याः) मनुष्य हैं। मानुषोत्तर पर्वतसे परेके द्वीपोंमें ऋद्धिधारक मुनि वा विद्याधरोंका भी (विग्रह गतिवाले मारणान्तिक समुद्धात और केवलि समुद्धातवाले मनुष्योंके सिवाय)

सर्वथा गमन नहीं है और न उन द्वीपोंमें मनुष्य होते ही हैं ॥ ३५ ॥

आर्या म्लेच्छाश्च ॥ ३६ ॥

अर्थ—(आर्याः) आर्य (च) और (म्लेच्छाः) म्लेच्छ इस तरह मनुष्य दो प्रकारके हैं। जो असि (शस्त्रधारण), मसि (लिखने का काम), कृषि (खेती), शिल्प, वाणिज्य और विद्या (नाचना, गाना आदि) इन छह कर्मोंसे हिंसारहित आजीविका करते हैं, उन्हें आर्य और जो त्रस जीवोंकी संकल्पी हिंसा करके अपना उदरनिर्वाह करते हैं उन्हें म्लेच्छ कहते हैं। आर्य दो प्रकारके हैं, एक ऋद्धिप्राप्त आर्य और दूसरे अनृद्धिप्राप्त आर्य। जिनको बुद्धि, विक्रिया, तप, बल, औषध, रस और अक्षीण ये सात ऋद्धियां प्राप्त होती हैं, वे सात प्रकारके ऋद्धिप्राप्त आर्य होते हैं और जिनको ऋद्धि प्राप्त न हों, उन्हें अनृद्धिप्राप्त आर्य कहते हैं। अनृद्धिप्राप्त आर्योंके क्षेत्रआर्य जातिआर्य, कर्मआर्य, चारित्रआर्य और दर्शनआर्य इसप्रकार पांच भेद हैं। इनके और भी उत्तरोत्तर भेद हैं। म्लेच्छ भी अन्तर्द्वीपज और कर्मभूमिज ऐसे दो प्रकारके हैं ॥ ३६ ॥

भरतैरावतविदेहाःकर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः ॥ ३७ ॥

अर्थ—(अन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः) पांच भरत, पांच ऐरावत और पांच विदेह इसप्रकार पंद्रह (कर्मभूमयः) कर्मभूमियां हैं। जिनमें असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, सेवा और शिल्प इन छह कर्मोंकी प्रधानता हो, उनको कर्मभूमि कहते हैं। अथवा जहां सर्वार्थसिद्धि आदिको प्राप्त करानेवाले तथा सातवें नरकको ले जानेवाले शुभ अशुभ कर्मोंका उत्कृष्ट बंध होता है तथा तीर्थकरत्वादि उत्तम कर्मप्रकृतियोंका बंध हो सकता है उनको कर्मभूमि कहते हैं ॥ ३७ ॥

नृस्थिती पराऽवरे त्रिपल्योपमांतर्मुहूर्ते ॥ ३८ ॥

अर्थ-(परावरे) उत्कृष्ट और जघन्य (नृस्थिती) मनुष्योंकी स्थिति अर्थात् आयु (त्रिपल्योपमांतर्मुहूर्त्ते) तीन पल्य और अंतर्मुहूर्त्तकी हैं। अर्थात् उत्कृष्ट आयु तीन पल्यकी और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्तकी है। मध्यके अनेक भेद हैं। मुहूर्त्तका प्रमाण दो घडी वा अडतालीस मिनिट है। जो दो घडीके भीतर ही हो उसे अंतर्मुहूर्त्त कहते हैं ॥ ३८ ॥

तिर्यग्योनिजानां च ॥ ३९ ॥

अर्थ--(च) और (तिर्यग्योनिजानां) तिर्यंचोंकी आयु भी उत्कृष्ट तीन पल्य और जघन्य अंतर्मुहूर्त्तकी है ॥ ३९ ॥

इति श्रीमदुमास्वामिविरचिते तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे तृतीयोऽध्यायः

चतुर्थ अध्याय।

अब क्रमानुसार ऊर्ध्वलोकका वर्णन करते हुए पहले उनमें रहनेवाले देवोंके भेदोंको बताते हैं:-

देवाश्चतुर्णिकायाः ॥ १ ॥

अर्थ-(देवाः) देव (चतुर्णिकायाः) चारप्रकारके हैं। अर्थात् देवोंके चार समूह हैं-भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक ॥ १ ॥

आदितस्त्रिषु पीतांतलेश्याः ॥ २ ॥

अर्थ-(आदितः) पहलेके (त्रिषु) तीनप्रकारके देवोंमें अर्थात् भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिष्कोंमें (पीतांतलेश्याः) पीतलेश्या तक अर्थात् कृष्ण, नील, कापोत और पीत ये चार ही लेश्या हैं ॥ २ ॥

दशाष्टपंचद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यंताः ॥ ३ ॥

अर्थ-(कल्पोपपन्नपर्यंताः) कल्पवासी पर्यंत इन चारों प्रकारके देवोंके क्रमसे (दशाष्टपंचद्वादशविकल्पाः) दश, आठ, पांच और बारह भेद हैं। अर्थात्-दशप्रकारके भवनवासी, आठ प्रकारके व्यंतर, पांचप्रकारके ज्योतिष्क और बारहप्रकारके कल्पोपपन्न वा कल्पवासी देव हैं ॥ ३ ॥

इंद्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदात्मरक्षलोकपाला-
नीकप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्विषिकाश्चैकशः ॥ ४ ॥

अर्थ-इन चारों प्रकारके देवोंमें इंद्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक ऐसे दश भेद होते हैं। अन्य देवोंमें नहीं पाई जावें, ऐसी अणिमामहिमा आदि अनेक ऋद्धियोंसे जो परम ऐश्वर्यको प्राप्त हों, सो इंद्र हैं। जिनके स्थान, आयु, वीर्य, परिवार भोगादिक तो इंद्रके ही समान हों परंतु आज्ञा, ऐश्वर्य इंद्रके समान नहीं हो, और जिनको इंद्र अपने पिता उपाध्यायके समान बडे मानें, उन्हें **सामानिक** देव कहते हैं। मंत्री, पुरोहितके समान शिक्षा देनेवाले, पुत्रके समान प्रियपात्र और जिनको देखने वा वार्तालाप करनेसे इंद्रके मनको आनंद होता है उनको **त्रायस्त्रिंश** कहते हैं। जो इंद्रकी बाह्य, आभ्यंतर और मध्यकी तीनों प्रकारकी सभाओंमें बैठने योग्य सभासद हैं, उन्हें **पारिषद** कहते हैं। इंद्रकी सभामें जो शस्त्र

---

१ ऊर्ध्वलोकके दो भेद हैं कल्प और कल्पातीत। और जिनमें वैमानिक देव रहते हैं, वे भी स्थानभेदसे दो प्रकारके हैं। उनमेंसे कल्पोंमें (उपपन्न) रहनेवालोंके ही बारह भेद हैं, कल्पातीतोंके नहीं हैं।

धारण किये हुए इंद्रके पीछे खडे रहते हैं, वे आत्मरक्ष हैं। कोट-पालके समान जो होते हैं, उन्हें लोकपाल कहते हैं। जो पियादा अश्व, वृषभ, रथ, हाथी, गंधर्व, नर्तकी आदिके रूपोंको धारण करते हैं, वे अनीक हैं। प्रजाके समान प्रीतिके करनेवाले देवोंको प्रकीर्णक कहते हैं। जो सेवकोंके समान हाथी, घोडा, वाहन बनकर इंद्रादिककी सेवा करते हैं, उन्हें आभियोग्य कहते हैं। और दूर रहनेवाले तथा इंद्रादिक देवोंके सन्मानादिकके अनधिकारी, बाहर खडे रहनेवाले किल्विषिक हैं। इसप्रकार (एकशः) एक एक प्रकारके देवोंके दश दश भेद हैं ॥ ४ ॥

अब व्यंतर और ज्योतिष्कोंमें जो आठ आठ ही भेद हैं, उन्हे कहते हैं:—

त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यंतरज्योतिष्काः ॥ ५ ॥

अर्थः—(व्यंतरज्योतिष्काः) व्यंतरदेव और ज्योतिष्कदेव (त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्याः) त्रायस्त्रिंश और लोकपाल देवोंसे रहित हैं। अर्थात् व्यंतर और ज्योतिष्क देवोंमें ये दो भेद नहीं हैं ॥ ५ ॥

पूर्वयोर्द्वींद्राः ॥ ६ ॥

अर्थ—(पूर्वयोः) पहलेके दो समूहोंमें अर्थात् भवनवासी और व्यंतरोंके प्रत्येक भेदमें (द्वींद्राः) दो दो इंद्र हैं। भावार्थ, दशप्रकारके भवनवासी देवोंमें चमर, वैरोचन आदिक बीस इंद्र हैं और आठप्रकारके व्यंतरोंमें किन्नर, किंपुरुष आदिक सोलह इंद्र हैं॥ ६॥

कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥ ७ ॥

अर्थ—(आ ऐशानात्) ऐशानस्वर्ग पर्यंतके देवोंमें अर्थात् भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्कोंमें और सौधर्म तथा ऐशान इन दो

स्वर्गोंके देवोंमें (कायप्रवीचाराः) शरीरसे कामसेवन करनेवाले होते हैं जैसे कि मनुष्योंमें ॥ ७ ॥

शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः ॥ ८ ॥

अर्थ–(शेषाः) ऊपरके स्वर्गोंके देव (स्पर्शरूपशब्दमनः-प्रवीचाराः) स्पर्श करनेसे, रूप देखनेसे, शब्द सुननेसे और विचारमात्र करनेसे प्रवीचार–कामसेवन करनेवाले हैं। भावार्थ; सानत्कुमार और माहेंद्र इन दो स्वर्गोंके देवों तथा देवियोंकी काम वासना परस्पर स्पर्श करनेसे शांत हो जाती है । ब्रह्म ब्रह्मोत्तर, लांतव और कापिष्ठ इन चार स्वर्गोंके देवदेवियोंकी कामपीडा स्वाभाविक सुंदर और शृंगारादियुक्त रूपको देखने मात्रसे ही दूर हो जाती है । शुक्र महाशुक्र, सतार और सहस्रार इन चार स्वर्गोंके देवदेवांगनाओंकी इच्छा परस्पर गीत व प्रेमभरे मधुर वचनालापादिकसे ही मिट जाती है । आनत, प्राणत, आरण और अच्युत इन चार स्वर्गोंके देवदेवियोंकी कामवासना परस्पर मनमें स्मरण करनेसे ही शांत हो जाती है ॥ ८ ॥

परेऽप्रवीचाराः ॥ ९ ॥

अर्थ–(परे) सोलह स्वर्गोंसे (कल्प-विमानोंसे) परेके कल्पातीत अर्थात् अच्युत स्वर्गसे ऊपर नव ग्रैवेयकोंके तीन सौ नौ विमान और नौ अनुदिशविमान तथा पांच अनुत्तर विमानवासी इनके कामवासना होती ही नहीं है ॥ ९ ॥

अब भवनवासियोंके दश भेद कहते हैं:—

भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीप-दिक्कुमाराः ॥ १० ॥

अर्थ-(भवनवासिनः) भवनवासीदेव (असुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराः) असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार उदधिकुमार, द्वीपकुमार, और दिक्कुमार ऐसे दश प्रकारके हैं ॥ १० ॥

अब व्यंतरोंके आठ भेद कहते हैं:-

व्यंतराः किन्नरकिंपुरुषमहोरगगंधर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः ॥ ११ ॥

अर्थः--(व्यंतराः) व्यंतरदेव (किन्नरकिंपुरुषमहोरगगंधर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः) किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच ऐसे आठ प्रकारके हैं ॥ ११ ॥

अब ज्योतिष्कदेवोंके पांच भेद कहते हैं:—

ज्योतिष्काः सूर्याचंद्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च ॥ १२ ॥

अर्थः--(ज्योतिष्काः) ज्योतिष्कदेव (सूर्याचंद्रमसौ) सूर्य और चंद्रमा (च) तथा (ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाः) ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारे, इस तरह पांच प्रकारके हैं परंतु ये पांच भेद केवल शक्ति आदिकी हीनाधिकताके कारण हैं ॥ १२ ॥

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥ १३ ॥

अर्थ-ये सब ज्योतिष्कदेव (नृलोके) मनुष्यलोकमें अर्थात् अढाईद्वीप और दो समुद्रोंमें (मेरुप्रदक्षिणाः) सुमेरुपर्वतकी प्रदक्षिणा देते हुए (नित्यगतयः) निरंतर गमन करनेवाले हैं[१]॥ १३ ॥

तत्कृतः कालविभागः ॥ १४ ॥

अर्थ-(कालविभागः) समयका विभाग अर्थात् घडी, पल,

---

१ श्लोकवार्तिकटीकामें युक्तिद्वारा सिद्ध किया है कि सूर्यादिक ही मेरुके आसपास प्रदक्षिणारूप भ्रमण करते हैं भूमि नहीं फिरती ।

दिन, रात्रिका व्यवहार (तत्कृतः) उन गमन करते हुए सूर्य, चंद्रमा आदि द्वारा सूचित होता है ॥ १४ ॥

बहिरवस्थिताः ॥ १५ ॥

अर्थ—(बहिः) मनुष्यलोकसे बाहर जो सूर्यचंद्रादिक ज्योतिष्कदेव हैं, वे (अवस्थिताः) स्थित हैं अर्थात् गमन नहीं करते हैं—जहांके तहां स्थिर रहते हैं ॥ १५ ॥

वैमानिकाः ॥ १६ ॥

अर्थ—जिनमें रहनेसे जीव विशेष पुण्यवंत माने जावें, उन्हें विमान कहते हैं; और उन विमानोंमें जो रहते हैं, वे वैमानिक कहाते हैं। सब विमान चौरासी लाख सत्तानवे हजार तेईस हैं और एक एक विमान संख्यात असंख्यात योजनोंके विस्तारमें हैं ॥ १६ ॥

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥ १७ ॥

अर्थ—उक्त वैमानिकदेव (कल्पोपपन्नाः) एक तो कल्पोपपन्न हैं (च) और दूसरे (कल्पातीताः) कल्पातीत हैं। भावार्थ–

---

१ जंबूद्वीपमें दो सूर्य, दो चंद्रमा हैं। लवण समुद्रमें चार सूर्य और चार चंद्रमा हैं। धातकीद्वीपमें बारह सूर्य और बारह चंद्रमा हैं। कालोदधिसमुद्रमें ब्यालीस सूर्य और ब्यालीस चंद्रमा हैं। और पुष्करार्द्धमें बहत्तर सूर्य और बहत्तर चंद्रमा हैं। इसप्रकार अढाईद्वीपके पांचों क्षेत्रोंमें एकसौ बत्तीस चंद्रमा और इतनेही सूर्य हैं। ये सब ग्रह, नक्षत्र तारादिगणसहित मेरुके चारों तरफ फिरते हैं। अढाईद्वीपसे बाहरके सूर्य चंद्रमादिक सब ज्योतिष्कविमान स्थिर हैं। २ सूत्र नं० ३ में कल्पोपपन्न वैमानिकदेवोंके जो बारह भेद बताये हैं, वे ये हैं:—सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, लान्तव, शुक्र, सतार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत।

सौधर्मादि सोलह स्वर्गोंके विमानोंमें इंद्रादिक दशप्रकारके देवोंकी कल्पना होती है. इस कारण उन विमानोंकी कल्प संज्ञा है और जो कल्पोंमें उत्पन्न हों उन्हें कल्पोपपन्न कहते हैं। जिन विमानों में इंद्रादिकोंकी कल्पना नहीं है, ऐसे ग्रैवेयकादिकोंको कल्पातीत कहते हैं ॥ १७ ॥

उपर्युपरि ॥ १८ ॥

अर्थ—कल्पोंके युगल तथा नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पांच अनुत्तर ये सब विमान क्रमसे [उपरि उपरि] ऊपर ऊपर हैं ॥१८॥

सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेंद्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलांतवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्रसतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजयवैजयंतजयंतापराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥ १९ ॥

अर्थ-वैमानिकदेव (सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेंद्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलांतवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्रसतारसहस्रारेषु) सौधर्म और ऐशान, सनत्कुमार और माहेंद्र, ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर, लांतव और कापिष्ठ, शुक्र और महाशुक्र, सतार और सहस्रार, इन छह युगलों में अर्थात् बारह स्वर्गोंमें तथा (आनतप्राणतयोः) आनत और प्राणत इन दो स्वर्गोंमें तथा (आरणाच्युतयोः) आरण और अच्युत नामके युगलमें, तथा (नवसु ग्रैवेयकेषु) नव ग्रैवेयकोंके नव पटलोंमें तथा उनसे ऊपरके नव अनुदिशरूप एक पटलके विमानोंमें तथा उनके ऊपर (विजयवैजयंतजयंतापराजितेषु) विजय, वैजयंत, जयंत और अपराजित नामके विमानोंमें (च) और

---

१ 'नव' शब्दको समास नहीं करके जुदा विभक्तिवाला कहा है, इस कारण नव अनुदिशका भी सूत्रसे ग्रहण है।

(सर्वार्थसिद्धौ) सर्वार्थसिद्धिमें कल्पोपपन्न और कल्पातीत संज्ञा वाले देव रहते हैं ॥ १९ ॥

स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धींद्रियावधिविषयतोऽधिकाः ।

अर्थ—(स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धींद्रियावधिविषयतः) आयु, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्याकी विशुद्धता, इंद्रिय-विषय और अवधिज्ञानका विषय ये सब विषय ऊपर ऊपरके वैमानिकोंमें नीचे नीचेसे (अधिकाः) अधिक हैं ॥ २० ॥

गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥ २१ ॥

अर्थ— किंतु (गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतः) गमन[१], शरीर की ऊंचाई परिग्रह और अभिमान इन विषयोंमें ऊपर ऊपरके देव (हीनाः) हीन हैं ॥ २१ ॥

पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ॥ २२ ॥

अर्थ—(द्वित्रिशेषेषु) दो युगलोंमें फिर तीनमें फिर शेषके समस्त विमानोंमें क्रमसे (पीतपद्मशुक्ललेश्याः) पीत, पद्म और शुक्ल लेश्या होती है । अर्थात् सौधर्म, ऐशानमें पीत लेश्या, सानत्कुमार, माहेंद्रमें पीत पद्म दोनों, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव और कापिष्ठमें पद्म लेश्या, शुक्र, महाशुक्र, सतार और सहस्रार इन चार स्वर्गोंमें पद्म शुक्ल दोनों, और आनतादि शेष विमानोंमें शुक्ललेश्या है परंतु अनुदिश और अनुत्तर इन चौदह विमानोंमें परमशुक्ल लेश्या है ॥

प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥ २३ ॥

अर्थ— (ग्रैवेयकेभ्यः) ग्रैवेयकोंसे (प्राक्) पहले पहलेके

---

१ विषयोंकी उत्कट वांछाके न होनेसे ऊपर ऊपरके देवोंमें गमन करनेकी इच्छा कम होती है, गमनशक्ति कम नहीं है ।

सोलह स्वर्ग (कल्पाः) कल्पसंज्ञावाले हैं। इनमें रहनेवाले अह-मिंद्र कहाते हैं अर्थात् वहांका प्रत्येक देव इंद्रके समान स्वातंत्र्य सुख भोगनेवाला होता है ॥ २३ ॥

ब्रह्मलोकालया लौकांतिकाः ॥ २४ ॥

अर्थ-(ब्रह्मलोकालयाः) जिनका ब्रह्मलोक आलय है अर्थात् जो पांचवें ब्रह्मस्वर्गके अन्तमें रहते हैं वे (लौकांतिकाः) लौकांतिकदेव हैं। वे लौकांतिकदेव एकभवावतारी होते हैं अर्थात् मनुष्यका एक भव धारण करके ही मोक्षको चले जाते हैं। इस कारण जिनके लोक अर्थात् संसारका अन्त होनेवाला है, उन्हें लौकांतिक देव कहते हैं। ये विषयोंसे विरक्त, ब्रह्मचारी, द्वादशांगके पाठी और अत्यंत उदासीन होते हैं। तीर्थंकर भगवान्‌के तपकल्याणकके समय ही ये देव आते हैं। तपके सिवाय भगवान्‌के अन्य उत्सवोंमें भी नीचे नहीं आते ॥ २४ ॥

सारस्वतादित्यवन्हयरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च २५ ॥

अर्थ-सारस्वत, आदित्य, वन्हि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और अरिष्ट ये आठ प्रकारके लौकांतिकदेव होते हैं। ये ब्रह्मस्वर्गकी आठों दिशाओंमें रहते हैं इनके मध्य मध्यमें रहनेवाले और भी आठ भेद हैं ॥ २५ ॥

विजयादिषु द्विचरमाः ॥ २६ ॥

अर्थ-(विजयादिषु) विजयादिक चार विमानोंके देव (द्विचरमाः) द्विचरम होते हैं अर्थात् मनुष्यके दो जन्म लेकर मोक्षगामी होते हैं। सर्वार्थसिद्धिके देव एकभवावतारी होते हैं ॥२६॥

औपपादिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥ २७ ॥

अर्थ-(औपपादिकमनुष्येभ्यः) देव, नारकी और मनुष्योंके अतिरिक्त (शेषाः) शेष सब जीव (तिर्यग्योनयः) तिर्यंच हैं विशेष-इन तिर्यंचोंमेंसे जो सूक्ष्म एकेंद्रिय जीव हैं, वे समस्त लोकमें व्याप्त हैं-लोकका कोई भी प्रदेश उनसे खाली नहीं है। और वादर स्थूल एकेंद्रिय जीव पृथिवी जलादिकके आधारसे हैं। विकलत्रय (द्वींदिय, त्रींद्रिय और चतुरिंद्रिय) और पंचेंद्रिय तिर्यंच हैं वे त्रसनालीमें ही रहते हैं ॥ २७ ॥

स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेपाणां सागरोपमत्रिपल्योपमार्द्धहीनमिताः ॥ २८ ॥

अर्थ (असुरनागसुपर्णद्वीपशेपाणां) असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, द्वीपकुमार, और शेष छह कुमारोंकी (स्थितिः) आयु (सागरोपमत्रिपल्योपमार्द्धहीनमिताः) क्रमसे एक सागर, तीन पल्य, अढाई पल्य, दो पल्य, और डेढ पल्यकी है। अर्थात असुरकुमारोंकी आयु एक सागरकी है, नागकुमारोंकी तीन पल्य है, सुपर्णकुमारोंकी अढाई पल्य है, द्वीपकुमारोंकी दो पल्य है, और शेष रहे जो छह कुमार उनकी डेढ डेढ पल्यकी है। इस प्रकार भवनवासी देवोंकी उत्कृष्ट आयु है ॥ २८ ॥

सौधर्मैशानयोः सागरोपमे अधिके ॥ २९ ॥

अर्थ-(सौधर्मैशानयोः) सौधर्म और ऐशान स्वर्गके देवोंकी उत्कृष्ट आयु (सागरोपमे अधिके) कुछ अधिक दो सागर है ॥

सानत्कुमारमाहेंद्रयोः सप्त ॥ ३० ॥

अर्थ (सानत्कुमारमाहेंद्रयोः) सानत्कुमार और माहेंद्र इन दोनों स्वर्गके देवोंकी आयु (सप्त) कुछ अधिक सात सागरकी है ॥

त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपंचदशभिरधिकानि तु ॥ ३१ ॥

अर्थ—(त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपंचदशभिः) सात सागरसे तीन, सात, नौ, ग्यारह, तेरह और पंद्रह सागर (तु अधिकानि) अधिक आयु क्रमसे अगले छह युगलोंमें है। अर्थात् ब्रह्म और ब्रह्मोत्तरमें दश सागरसे कुछ अधिक, लांतव और कापिष्ठमें चौदह सागरसे कुछ अधिक, शुक्र और महाशुक्रमें सोलह सागरसे कुछ अधिक, सतार और सहस्रारमें अठारह सागरसे कुछ अधिक, आनत और प्राणतमें बीस सागरकी और आरण तथा अच्युतमें बाईस सागरकी उत्कृष्ट आयु है। सूत्रमें 'तु' शब्द होनेसे सहस्रार पर्यंत के देवोंकी आयु कुछ कुछ अधिक कही गई है। आगे अधिक नहीं है पूरे पूरे सागरोंके परिमाण ही है ॥ ३१ ॥

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥ ३२ ॥

अर्थ (आरणाच्युतात्) आरण और अच्युत युगलसे (ऊर्ध्वम्) ऊपर (नवसु ग्रैवेयकेषु) नव ग्रैवेयकोंमें, नव अनुदिशोंमें (विजयादिषु) विजयादिक चार विमानोंमें (च) और (सर्वार्थसिद्धौ) सर्वार्थसिद्धि[1] विमानमें (एकैकेन) एक एक सागर बढती आयु है। अर्थात् प्रथम ग्रैवेयकोंमें तेईस सागर, दूसरेमें चौवीस सागर, तीसरेमें पच्चीस सागर, चौथेमें छब्बीस सागर, पांचवेमें सत्ताईस सागर, छट्ठेमें अट्ठाईस सागर, सातवेमें उनतीस सागर, आठवेमें तीस सागर, नववेंमें इकतीस सागर, नव अनुदिशोंमें बत्तीस

---

१ 'सर्वार्थसिद्धि' शब्द जुदा कहनेका तात्पर्य यह है कि उसमें उत्कृष्ट ही आयु है, जघन्यादिका भेद नहीं है।

सागर और विजय, वैजयंत, जयन्त, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धि इन पांचों विमानोंमें तेतीस सागरकी उत्कृष्ट आयु है ॥ ३२ ॥

अपरा पल्योपममधिकम् ॥ ३३ ॥

अर्थ-(अपरा) जघन्य आयु अर्थात् कमसे कम आयु सौधर्म और ईशान स्वर्गमें (पल्योपमम् अधिकम्) कुछ अधिक एक पल्य है ॥ ३३ ॥

परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा ॥ ३४ ॥

अर्थ-(अनन्तरा) व्यवधान रहित (पूर्वा पूर्वा) पहले पहले युगलकी उत्कृष्ट आयु (परतः परतः) अगले अगले युगलों में (अपरा) जघन्य है । भावार्थ--सौधर्म और ऐशान स्वर्गमें कुछ अधिक दो सागरकी जो उत्कृष्ट आयु है, वही सानत्कुमार और माहेंद्रमें जघन्य आयु है सानत्कुमार और माहेंद्रकी कुछ अधिक सात सागरकी जो उत्कृष्ट आयु है, वही अगले ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर युगलमें जघन्य है । इसी प्रकार अगले समस्त विमानोंमें समझना चाहिये । सर्वार्थसिद्धिमें जघन्य आयु नहीं होती है ॥ ३४ ॥

नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥ ३५ ॥

अर्थ-(च) और इसी प्रकार (द्वितीयादिषु) दूसरे तीसरे आदि नरकोंमें भी (नारकाणां) नारकी जीवोंकी जघन्य आयु है । अर्थात् रत्नप्रभा पृथिवीमें नारकी जीवोंकी एक सागरकी जो उत्कृष्ट आयु है, वही दूसरे नरकमें जघन्य है । दूसरेकी उत्कृष्ट आयु तीसरेमें जघन्य है । इसी प्रकार सातों नरकोंमें जानना ॥ ३५ ॥

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥ ३६ ॥

अर्थ-(प्रथमायां) प्रथम नरकमें सीमन्तक नाम पहले पटलके

नारकी जीवोंकी जघन्य आयु (दशवर्षसहस्राणि) दश हजार वर्षकी है ॥ ३६ ॥

भवनेषु च ॥ ३७ ॥

अर्थ- (भवनेषु) भवनवासियोंमें (च) भी जघन्य आयु दश हजार वर्षकी है ॥ ३७ ॥

व्यंतराणां च ॥ ३८ ॥

अर्थ-(व्यंतराणां) व्यंतरदेवोंकी (च) भी जघन्य आयु दश हजार वर्षकी है ॥ ३८ ॥

परा पल्योपममधिकम् ॥ ३९ ॥

अर्थ-व्यंतरोंकी (परा) उत्कृष्ट आयु (पल्योपमम् अधिकम्) कुछ अधिक एक पल्यकी है ॥ ३९ ॥

ज्योतिष्काणां च ॥ ४० ॥

अर्थ- (ज्योतिष्काणां) ज्योतिष्कदेवोंकी (च) भी उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक एक पल्यकी है ॥ ४० ॥

तदष्टभागोऽपरा ॥ ४१ ॥

अर्थ-ज्योतिष्कदेवोंकी (अपरा) जघन्य आयु (तदष्टभागः) उस एक पल्यके आठवें भागके बराबर है ॥ ४१ ॥

लौकांतिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम् ॥ ४२ ॥

अर्थ- ब्रह्मस्वर्गके अन्तमें रहनेवाले (सर्वेषाम्) समस्त (लौकांतिकानाम्) लौकांतिकदेवोंकी उत्कृष्ट और जघन्य आयु (अष्टौ सागरोपमाणि) आठ सागरकी है ॥ ४२ ॥

इति श्रीमदुमास्वामिविरचिते तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे

चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

पंचम अध्याय ।

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ॥ १ ॥

अर्थ--(धर्माधर्माकाशपुद्गलाः) धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ये चार द्रव्य (अजीवकायाः) अजीव और काय, अर्थात् अचेतन और अनेकप्रदेशी हैं ॥ १ ॥

द्रव्याणि ॥ २ ॥

अर्थः--उक्त चारों पदार्थ द्रव्य हैं अर्थात् षट् द्रव्योंमेंसे ये चार द्रव्य हैं। तीन कालमें जो अपने गुणपर्यायोंको द्रवै अर्थात् प्राप्त हो उसे द्रव्य कहते हैं ॥ २ ॥

जीवाश्च ॥ ३ ॥

अर्थः-(जीवाः) जीव (च) भी द्रव्य हैं। अर्थात् जीव भी अपने गुण और पर्यायों सहित हैं, इस कारण इनकी भी द्रव्य-संज्ञा है ॥ ३ ॥

नित्यावस्थितान्यरूपाणि ॥ ४ ॥

अर्थ-इस अध्यायके ३९ वें सूत्रमें कहे हुए कालद्रव्यसहित ये जीव, पुद्गल, आकाश, धर्म और अधर्मद्रव्य (नित्यावस्थि-तानि) नित्य हैं अर्थात् ये कभी नष्ट नहीं होते हैं और अवस्थित हैं अर्थात् संख्यामें घटते-बढते नहीं हैं। सारांश यह कि द्रव्य छह हैं सो कभी सात अथवा पांच नहीं होते हैं। तथा ये सब (अरूपाणि) रूपरहित-अरूपी हैं ॥ ४ ॥ किंतु,

रूपिणः पुद्गलाः ॥ ५ ॥

---

१ 'अजीवाश्च ते कायाः' इति कर्मधारयसमासः।

अर्थ– (पुद्गलाः) पुद्गलद्रव्य (रूपिणः) रूपी ही हैं। यद्यपि रूपी शब्दके अनेक अर्थ हैं, परंतु यहां परमागमके अनुसार 'मूर्तीक' अर्थ ही समझना चाहिये ॥ ५ ॥

आ आकाशादेकद्रव्याणि ॥ ६ ॥

अर्थ–(आ आकाशात्) आकाश पर्यंत (एकद्रव्याणि) एक एक द्रव्य हैं अर्थात् धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और अकाशद्रव्य ये एक एक हैं। जब ये तीनों एक हैं तो जीव, पुद्गल और काल इन तीनों द्रव्योंमें विना कहे भी अनेकता सिद्ध हो जाती है। सो आगमानुसार जीवद्रव्य अनंतानंत हैं। पुद्गलपरमाणु, जीवोंसे अनंतगुणे हैं और कालद्रव्यके अणु असंख्यात हैं ॥ ६ ॥

निष्क्रियाणि च ॥ ७ ॥

अर्थः–(च) और ये धर्म, अधर्म और आकाश तीनों ही द्रव्य (निष्क्रियाणि) चलनरूप क्रियासे रहित हैं। बाह्याभ्यंतर कारणसे एक क्षेत्रको छोडकर अन्यत्र जानेको क्रिया कहते हैं। सो ये तीनों द्रव्य लोकाकाशमें व्याप्त हैं, अनादि कालसे यहीं हैं, यहीं रहेंगे और क्रियारहित हैं ॥ ७ ॥

असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम् ॥ ८ ॥

अर्थः– (धर्माधर्मैकजीवानाम्) धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और एक जीवद्रव्यके (असंख्येयाः प्रदेशाः) असंख्यात २ प्रदेश हैं। जितने क्षेत्रको एक अविभागी [जिससे छोटा और भाग नहीं हो सके] पुद्गलाणु रोकता है, उतने क्षेत्रको एक प्रदेश कहते हैं ॥८॥

आकाशस्यानंताः ॥ ९ ॥

अर्थ–(आकाशस्य) आकाशके (अनंताः) अनंत प्रदेश

हैं। किंतु लोकाकाशके असंख्यात ही प्रदेश हैं॥ ९

संख्येयाऽसंख्येयाश्च पुद्गलानाम ॥ १०

अर्थ–(पुद्गलानाम्) पुद्गलोंके (संख्येयासंख्येयाः) संख्यात, असंख्यात (च) और अनंत भी प्रदेश हैं। यद्यपि एक शुद्ध पुद्गलपरमाणु एक ही प्रदेशवाला है परन्तु पुद्गलपरमाणुओंमें मिलन-विछुरन शक्ति है। इस कारण अनेक स्कंध दो दो परमाणुओंके और अनेक तीन तीन, चार चार परमाणुओंके हैं। इसी प्रकार संख्यात परमाणुओंके तथा असंख्यात और अनन्त परमाणुओंके भी बहुतसे स्कंध हैं।

यहां यदि कोई प्रश्न करै कि लोकाकाश तो असंख्यातप्रदेशी है और पुद्गलके अनंतानंतपरमाणु हैं तथा स्कंध अनंत परमाणुओंके हैं फिर वे लोकाकाशमें कैसे समाते होंगे? इसका समाधान यह है कि पुद्गलोंके परिणमन दो प्रकारके हैं:–एक सूक्ष्मपरिणमन और दूसरा स्थूलपरिणमन। जब इनका सूक्ष्मपरिणमन होता है, तब आकाशके एक ही प्रदेशमें अनंत परमाणु भी आ सकते हैं। इसके सिवाय आकाशमें अवकाशदान शक्ति भी है, इस कारण ऊपरका आक्षेप नहीं आता है॥ १० ॥

नाणोः ॥ ११ ॥

अर्थ–(अणोः) अणु अर्थात् पुद्गलपरमाणुके (न) प्रदेश नहीं हैं, अर्थात् परमाणुके एकदेशमात्रता कही है। क्योंकि परमाणुके खण्ड [टुकडे] नहीं हो सकते ॥ ११ ॥

लोकाकाशेऽवगाहः ॥ १२ ॥

अर्थ–इन समस्त धर्मादिक द्रव्योंका (लोकाकाशे) लोका-

काशमें (अवगाहः) अवगाह अर्थात् स्थिति है। लोकाकाशसे बाहर अलोकाकाशमें अन्य कोई भी द्रव्य नहीं है। जहां तक पांच द्रव्य हैं, वहीं तकके आकाशको लोकाकाश कहते हैं ॥ १२ ॥

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥ १३ ॥

अर्थ-(धर्माधर्मयोः) धर्म और अधर्म द्रव्यका अवगाह (कृत्स्ने) समस्त लोकाकाशमें है। अर्थात् जैसे तिलोंमें सर्वत्र तेल व्याप्त है, इसी प्रकार लोकाकाशके समस्त प्रदेशोंमें धर्म और अधर्म द्रव्यके प्रदेश व्याप्त हैं ॥ १३ ॥

एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥ १४ ॥

अर्थ-(एकप्रदेशादिषु) लोकके एक प्रदेशादिक भागोंमें (पुद्गलानां) पुद्गलद्रव्योंका अर्थात् एक परमाणु, दो परमाणु, संख्यात, असंख्यात और अनन्त परमाणुओंका अवगाह (भाज्यः) विकल्प करना चाहिये। अर्थात उक्त पुद्गलोंका अवगाह एक, दो आदि प्रदेशोंमें जानना चाहिये ॥ १४ ॥

असंख्येयभागादिषु जीवानाम् ॥ १५ ॥

अर्थ-(असंख्येयभागादिषु) लोकके असंख्यातवें एक भागादिमें (जीवानां) जीवोंका अवगाह है ॥ १५ ॥

जो जीव एक छोटेसे शरीरमें होता है, वही बडे शरीरमें कैसे व्याप्त हो जाता है? ऐसा यहां प्रश्न होता है। इसलिये उत्तरमें कहते हैं कि;—

प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ॥ १६ ॥

अर्थ— प्रत्येक जीवके प्रदेश लोकाकाशके प्रदेश हैं, तथापि वे (प्रदीपवत्) दीपकके प्रकाशके समान (प्रदेशसंहारविसर्पा-

ख्याम्). प्रदेशोंमें संकोच विस्तारके होनेसे जैसा आधार शरीर हो, वैसे ही संकोच विस्ताररूप प्रदेशवाले हो जाते हैं ॥ १६ ॥

आगे प्रत्येक द्रव्यका उपकार कहते हैं—

गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः ॥ १७ ॥

अर्थ— जीव और पुद्गलको (गतिस्थित्युपग्रहौ) गमनरूप और स्थितिरूप करना (धर्माधर्मयोः) धर्म और अधर्म द्रव्यका (उपकारः) उपकार[1] है । भावार्थ—जीव और पुद्गलोंके हलनेमें तो धर्मद्रव्य सहकारी है और स्थित होनेमें अधर्मद्रव्य है— फिर भी प्रेरक नहीं है ॥ १७ ॥

आकाशस्यावगाहः ॥ १८ ॥

अर्थ—समस्त द्रव्योंको अर्थात् जीवादि पांचों द्रव्योंको (अवगाहः) अवकाश देना अर्थात् जगह देना (आकाशस्य) आकाशद्रव्यका उपकार है ॥ १८ ॥

शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानां ॥ १९ ॥

अर्थ— (शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः) शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास आदि होना (पुद्गलानां) पुद्गलोंका उपकार है । भावार्थ—आहारवर्गणा आदि पांच तरहके पुद्गलसमूहोंसे शरीर आदि बनते हैं ॥ १९ ॥

सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥ २० ॥

अर्थ— (च) तथा (सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाः) सुख, दुःख, जीना और मरना ये उपकार भी पुद्गलोंके हैं । क्योंकि सुख

---

१ उपकार — नाम निमित्तकारणका है । जैसे विष आदि अनिष्ट पुद्गल पदार्थ जीवको दुःख और मरणके निमित्तकारण हैं ।

दुःख जीना और मरना भी कर्मरूप पुद्गलोंके कारणसे होता है ॥ २०

परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥ २१ ॥

अर्थ-(जीवानां) जीवोंका (परस्परोपग्रहः) परस्पर उपकार है। अर्थात् जीव कारणवश एक दूसरेका सुख दुःख, जीवन मरण, सेवा शुश्रूषा आदिसे उपकार करते हैं ॥ २१ ॥

वर्त्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य ॥ २२ ॥

अर्थ-(कालस्य) कालके (वर्त्तनापरिणामक्रियाः)वर्तना, परिणाम, क्रिया (च) और (परत्वापरत्वे) परत्व और अपरत्व ये पांच उपकार हैं। जो दूसरेको वर्तावे, उसको वर्त्तना कहते हैं। भावार्थ-यद्यपि धर्मादिक द्रव्य अपनी पर्यायपूरणार्थ स्वयं वर्त्तनरूप होते हैं, तथापि उनके वर्त्तनमें जो बाह्य कारण है-जो उनको वर्त्तनारूप करता है, उसको वर्त्तना कहते हैं। द्रव्यका ऐसा पर्याय जो कि एक धर्मका निवृत्तिरूप और दूसरे धर्मका जननरूप हो, उसको परिणाम कहते हैं। जैसे-आत्माके क्रोधादिक और पुद्गलके वर्णादिक परिणाम हैं। जो हलनचलनादिरूप हो, वह क्रिया है। एक देशसे दूसरे देश तक जानेको भी क्रिया कहते हैं। जैसे-गाडीका चलना, मेघोंका चलना। और बडा छोटा इस व्यवहारको परत्वापरत्व कहते हैं। जैसे यह युवा पंद्रह वर्षका है और यह बीस वर्षका है, ऐसा जो व्यवहार है. वह परत्वापरत्व है। ये सब वर्त्तनादिक कालके निमित्तसे होते हैं और इन्हींसे कालका अस्तित्व सिद्ध होता हैं ॥ २२ ॥

स्पर्शरसगंधवर्णवंतः पुद्गलाः ॥ २३ ॥

अर्थ-(स्पर्शरसगंधवर्णवंतः) स्पर्शरसगंधवर्णवाले (पुद्गलाः)

पुद्गलद्रव्य हैं। कोमल, कठोर, हलका, भारी, शीत, उष्ण, सचिक्कण और रूक्ष ये आठ स्पर्श हैं। खट्टा, मीठा, कडुवा, (तिक्त) कषायला और चरपरा ये पांच रस हैं। सुगंध और दुर्गंध ये दो गंध हैं। कृष्ण, हरित्, रक्त, पीत और श्वेत ये पांच वर्ण (रंग) हैं ॥२३॥

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवंतश्च ॥ २४ ॥

अर्थ-(च) तथा ये पुद्गल शब्द, बंध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत सहित हैं। भावार्थ-शब्दादिक भी पुद्गलोंकी एकप्रकारकी अवस्थाएँ हैं। शब्दादिकोंको जो कुछ वादी अन्यरूप मानते हैं, उनका इस सूत्रसे खंडन होता है ॥ २४ ॥

अणवः स्कंधाश्च ॥ २५ ॥

अर्थ-(च) तथा पुद्गलद्रव्य (अणवः) अणु और (स्कंधाः) स्कंध इस प्रकार दो भेदरूप भी है। दोसे लेकर संख्यात तथा असंख्यात वा अनंतपरमाणुओं तकके पिंडको स्कंध कहते हैं ॥२५॥

भेदसंघातेभ्य उत्पद्यंते ॥ २६ ॥

अर्थ- पुद्गलोंके स्कंध (भेदसंघातेभ्यः) भेद और संघातसे अर्थात् पूर्व पर्यायके टूटने वा जुडनेसे तथा दोनोंसे भी (उत्पद्यंते) उत्पन्न होते हैं। 'भेदसंघातेभ्यः' यहां बहुवचन देनेसे भेद और संघात दोनोंसे भी स्कंध होते हैं, ऐसा समझना चाहिए। दो आदिके संघातसे वा मिलनेसे भी नाना स्कंध होते हैं। और बडे स्कंधोंके टूटनेसे भी दो परमाणुओंतकके अनेक स्कंध होते हैं। तथा इसी प्रकार कितने ही स्कंधोंका भेद होनेसे और उसी समय कितने ही

स्कंधोंके मिलनेसे भी स्कंध होते हैं ॥ २६ ॥

भेदादणुः ॥ २७ ॥

अर्थ-(अणुः) अणु (भेदात्) भेदसे ही होता है, अर्थात संघातसे नहीं होता ॥ २७ ॥

भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः ॥ २८ ॥

अर्थ-(चाक्षुषः) जो नेत्रेंद्रियगोचर स्कंध होता है, वह (भेदसंघाताभ्यां) भेद और संघात दोनोंसे ही होता है।

भावार्थ-जिन स्कंधोंका ज्ञान इन्द्रियोंसे हो सकता है, वे भेद और संघात दोनोंसे होते हैं ॥ २८ ॥

सद् द्रव्यलक्षणम् ॥ २९ ॥

अर्थ-(द्रव्यलक्षणम्) द्रव्यका लक्षण (सत्) सत् है। अर्थात् जो सत्रूप है, वही द्रव्य है ॥ २९ ॥

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥ ३० ॥

अर्थ-(उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं) उत्पत्ति, विनाश और स्थिरता सहित है, वही (सत्) सत् है। बाह्याभ्यंतर निमित्तके वश अपनी जातिको न छोडकर चेतन वा अचेतन द्रव्यका एक अवस्थासे दूसरी अवस्थारूप होना उत्पत्ति वा उत्पाद है। जैसे-सोनेमें कुंडलोंका कडेरूप होना उत्पाद है और कुंडलरूप अवस्थाका नष्ट होना विनाश वा व्यय है। और पीलापन, भारीपन आदि अपनी जातिको लिए हुए दोनों अवस्थाओंमें मौजूद रहना ध्रौव्य है। इस तरह द्रव्यमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीनों

---

१ यह सूत्र नियमार्थ है। पहलेके 'विधिसूत्र' से अर्थ सिद्ध होनेपर भी फिरसे जो 'विधिसूत्र' कहा जाता है, वह 'नियमसूत्र' होता है।

धर्म एक साथ निरन्तर रहते हैं। जिसमें ये तीनों धर्म रहैं, वही सत् और वही द्रव्य है ॥ ३० ॥

तद्भावाव्ययं नित्यम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—(तद्भावाव्ययं) जो तद्भावरूपसे अव्यय है वही (नित्यम्) नित्य है। भावार्थ—जो पहले समयमें था वही दूसरे समयमें हो, उसे तद्भाव कहते हैं। और जो तद्भावसे अव्यय (विनाशरहित) हो, उसको नित्य जानना चाहिये। अभिप्राय यह है कि पदार्थके भाव या गुणके नाश नहीं होनेको नित्य कहते हैं। अग्निके उष्णता गुणका बना रहना अग्निका नित्यत्व है। सर्वथा नित्यत्व अर्थात् कूटस्थता कोई स्वरूप नहीं है। जहां सत्ताकी वा द्रव्यत्वकी अपेक्षा नित्यत्व है, वहीं पर्यायकी अपेक्षा अनित्यत्व है ॥३१

अर्पितानर्पितसिद्धेः ॥ ३२ ॥

अर्थ—जिसको मुख्य करै सो अर्पित और जिसको गौण करै सो अनर्पित है। इन दोनों नयोंसे वस्तुकी सिद्धि होती है। भावार्थ वस्तुमें अनेक धर्म होते हैं। उनमेंसे वक्ता जिस धर्मको प्रयोजनके वश प्रधान करके कहै, वह अर्पित है। और प्रयोजनके विना जिस धर्मको कहनेकी इच्छा नहीं करै, वह अनर्पित है। इससे यह न समझ लेना चाहिये कि जो धर्म कहा नहीं गया, वह वस्तुमें है ही नहीं। नहीं, वह भी जरूर है, परन्तु उस समय उसके कहने की मुख्यता नहीं है। क्योंकि वस्तु अनेकधर्मात्मक है। एक ही पुरुषमें पिता, पुत्र, भाई, मामा, भानजा, ससुर, जामाता आदि जो अनेक सम्बन्ध विद्यमान हैं वे सब अपेक्षासे ही सिद्ध होते हैं। कोई कहै—यह मामा ही है, सो नहीं है। भानजेकी अपेक्षा मामा

है किंतु भानजेके पिताका वह साला है और भानजेकी माताका भाई भी है। जिस समय मामा कहा जाता है, उस समय सालापन वा भाईपन गौण वा अनर्पित होता है। इसी प्रकार वस्तुमें भी अनेक धर्म भिन्न भिन्न अपेक्षासे सिद्ध होते हैं ॥ ३२ ॥

स्निग्धरूक्षत्वाद् बंधः ॥ ३३ ॥

अर्थ–दो आदि परमाणुओंके स्कन्धोंका (बंधः) बन्ध (स्निग्धरूक्षत्वात्) स्निग्धत्वसे अर्थात चिकनाईसे और रूक्षत्वसे अर्थात् रूखेपनसे होता है ॥ ३३ ॥

न जघन्यगुणानाम् ॥ ३४ ॥

अर्थ–(जघन्यगुणानां) जघन्यगुणसहित परमाणुओंमें बन्ध (न) नहीं होता है। परमाणुओंमें स्निग्धता वा रूक्षताके अविभागी अंशको गुण कहते हैं। जिस परमाणुमें स्निग्धताका वा रूक्षताका एक अविभागी अंश रह जाय, वह जघन्यगुणवाला है। यहां एक अविभागी अंशको जघन्य कहा है। जिसमें एक गुण स्निग्धरूक्षताका हो, वह परमाणु द्वितीयादि संख्यात, असंख्यात अनंतगुण सहित स्निग्ध परमाणु वा रूक्ष परमाणुके साथ बन्धको प्राप्त नहीं होगा ॥ ३४ ॥

गुणसाम्ये सदृशानां ॥ ३५ ॥

अर्थ–(सदृशानां) सदृशोंका (गुणसाम्ये) गुणकी समानता होनेपर बंध नहीं होता। भावार्थ--पहले कह चुके हैं कि स्निग्ध और रूक्षोंका बन्ध होता है और अब निषेधप्रकरणमें सदृशोंका अर्थात् स्निग्धका स्निग्धके साथका भी ग्रहण किया है। इससे विदित होता है कि सदृशोंका भी बन्ध होता है। इसीलिये

अंशोंकी समानतामें निषेध किया है । तथा द्विगुण स्निग्धोंका द्विगुण रूक्षोंके साथ बन्ध नहीं होगा और द्विगुण स्निग्धोंका द्विगुण स्निग्धोंके साथ बंध नहीं होगा। इसी तरह और भी जानना ॥३५॥

द्व्यधिकादिगुणानां तु ॥ ३६ ॥

अर्थ-(द्व्यधिकादिगुणानां तु) किंतु दो अधिक गुणवालोंका ही बंध होता है. अर्थात् बंध तब ही होता, जब कि एकसे दूसरेमें दो गुण (अविभागी अंश) अधिक हों । जैसे-चार स्निग्धगुणके साथ पांच, सात आदिक स्निग्ध वा रूक्ष गुणवालेका बन्ध नहीं होगा । किंतु चारके साथ छह स्निग्ध वा रूक्ष गुणवालेका ही बन्ध होगा । इसी प्रकार रूक्ष सात गुणवालेका बन्ध आठ, दश. ग्यारह आदि गुणवालेके साथ न होकर नौ स्निग्ध वा रूक्ष गुणवालेके साथ ही होगा। इसी प्रकार समस्त बन्धोंमें दो दो गुण अधिकवालेका ही बन्ध होता है ॥ ३६ ॥

बंधेऽधिकौ पारिणामिकौ ॥ ३७ ॥

अर्थ-(बंधे) बंध अवस्थामें (अधिकौ) अधिकगुणसहित पुद्गल अल्पगुणसहितको [पारिणामिकौ] परिणमावनेवाले होते हैं । अर्थात् अल्प गुणके धारक स्कंध अधिक गुणके स्कंधरूप हो जाते हैं ॥३७॥

गुणपर्ययवद् द्रव्यम् ॥ ३८ ॥

अर्थ -(द्रव्यम्) द्रव्य (गुणपर्ययवत) गुणपर्यायवाला होता है । द्रव्यकी अनेक परिणति होनेपर भी जो द्रव्यसे भिन्न न हो, द्रव्यके साथ नित्य रहे, वह तो गुण है । और जो क्रमवर्ती हो, पलटनरूप हो, वह पर्याय है। द्रव्यके जितने गुण हैं, वे द्रव्यसे

कभी भिन्न नहीं होते। समस्त गुणोंका समूह ही द्रव्य है। द्रव्यकी अनेक पर्यायें (अवस्थाएँ) पलटते हुए भी गुण कदापि नहीं पलटते। द्रव्यके नित्य साथ रहते हैं। इसी कारण गुणोंको अन्वयी भी कहते हैं॥ ३८॥

कालश्च ॥ ३९ ॥

अर्थ- (कालः च) काल भी द्रव्य है। कालद्रव्य लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेशमें एक एक अणुरूप भिन्न भिन्न रहता है। पुद्गल-परमाणुकी अवगाहनाके बराबर ही इसकी अवगाहना है। यह अमूर्त्तीक है। लोकाकाशके प्रदेशोंकी बराबर असंख्यात हैं और रत्नोंकी राशिके समान भिन्न भिन्न तथा निष्क्रिय हैं। उत्पादव्यय-ध्रौव्य तथा गुणपर्यायसहित होनेसे यह भी द्रव्य है। इसीको निश्चयकालद्रव्य कहते हैं॥ ३९॥

सोऽनंतसमयः॥ ४० ॥

अर्थ- (सः) वह कालद्रव्य (अनंतसमयः) अनंतसमय-वाला है। यद्यपि वर्त्तमानकाल एक समय मात्र है; परंतु भूत, भविष्यत और वर्तमानकी अपेक्षा अनंतसमयवाला है। कालकी पर्यायका सबसे छोटा अंश समय है। इसके समूहसे आवली, घटिका इत्यादि व्यवहारकाल होते हैं। यह व्यवहारकाल निश्चयकालद्रव्यकी पर्याय है॥ ४०॥

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥ ४१ ॥

अर्थ- (द्रव्याश्रयाः) जो द्रव्यके नित्य आश्रय हों अर्थात् विना द्रव्यके आश्रयके स्वतंत्र नहीं रह सकते हों, तथा (निर्गुणाः) स्वयं अन्य गुणोंसे रहित हों, वे (गुणाः) गुण हैं। जैसे-जीवमें

अस्तित्व, ज्ञान आदि गुण हैं और पुद्गलमें अचैतनत्व, रूप आदि हैं ॥ ४१ ॥

तद्भावः परिणामः ॥ ४२ ॥

अर्थ-(तद्भावः) धर्मादिक द्रव्योंके, वे जिस रूप हैं उसी रूप होनेको (परिणामः) परिणाम वा पर्याय कहते हैं ॥ ४२ ॥

इति श्रीउमास्वामिविरचिते तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

षष्ठ अध्याय ।

कायवाङ्मनःकर्म योगः ॥ १ ॥

अर्थ-कायवाङ्मनःकर्म) काय, वचन, और मनकी क्रियाको (योगः) योग कहते हैं । अर्थात् शरीर, वचन और मनकेद्वारा आत्माके प्रदेशोंका जो सकम्प होना सो योग है । योग तीन प्रकार का है; काययोग वचनयोग, और मनोयोग । वीर्यांतराय कर्मका क्षयोपशम होनेपर औदारिकादि सातप्रकारकी कायवर्गणाओंमेंसे किसी वर्गणाके कारण आत्माके प्रदेशोंका जो सकंप (चलनरूप) होना सो काययोग है । वीर्यांतराय और मत्यक्षरादि आवरणके क्षयोपशम से प्राप्त हुई वाग्लब्धिकी निकटतासे वचनरूप परिणमनके सन्मुख हुए आत्माके प्रदेशोंका जो हलन चलनरूप होना सो वाग्योग (वचनयोग) है । और अभ्यंतरमें वीर्यांतराय तथा नोइंद्रियावरणके क्षयोपशमरूप मनोलब्धिकी निकटतासे और बाह्यमें पूर्वोक्त निमित्तके अवलंबनसे मनःपरिणामके सन्मुख आत्माके प्रदेशोंका जो सकंप होना सो मनोयोग है । भावार्थ-कायके निमित्तसे आत्माके

प्रदेशोंका चलनरूप होना काययोग है, वचनके निमित्तसे आत्म-प्रदेशोंका चलना वाग्योग है, और मनके निमित्तसे आत्मप्रदेशोंका चलना मनोयोग है ॥ १ ॥

स आस्रवः ॥ २ ॥

अर्थ– (सः) वह योग ही (आस्रवः) कर्मोंके आगमनका द्वाररूप आस्रव है । जिस प्रकार सरोवरमें जल आनेके द्वार (मोरी) जल आनेकेलिए कारण होते हैं, उसी प्रकार आत्माके भी मनोवचन-कायरूप योगोंके द्वारा जो शुभ अशुभ कर्म आते हैं उनके आनेमें योग कारण हैं । यहां कारणमें कार्यकी संभावना करके योगोंको ही आस्रव कहा है ॥ २ ॥

शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ॥ ३ ॥

अर्थ–(शुभः) शुभ परिणामोंसे पैदा हुआ योग (पुण्यस्य) पुण्य प्रकृतियोंके आस्रवका कारण है और (अशुभः) अशुभ परिणामोंसे उपत्न्न हुआ योग (पापस्य) पापरूप कर्मोंके आस्रवका कारण है । जीवोंका घात करना, असत्य बोलना, पराया धन हरण करना, ईर्षाभाव रखना इत्यादि अशुभ योग हैं । इनसे पापरूप कर्मों का ही आस्रव [आगमन] होता है । और जीवोंकी रक्षा करना, उपकार करना, सत्य बोलना, पंचपरमेष्ठीकी भक्ति करना आदि शुभ-योग हैं । इनसे पुण्यरूप कर्मोंका आस्रव होता है ॥ ३ ॥

सकषायाकषाययोः सांपरायिकेर्यापथयोः ॥ ४ ॥

अर्थ–(सकषायाकषाययोः) कशयसहित औा कषायरहित जीवोंके क्रमसे (सांपरायिकेर्यापथयोः) सांपरायिक आस्रव और ईर्यापथ आस्रव होता है । अर्थात् कषायसहित जीवोंके सांपरायिक

आस्रव होता है और कषायरहित जीवोंके ईर्यापथ नामका आस्रव होता है। जो आत्माको 'कषन्ति' अर्थात् कषते हैं, वा घातते हैं, वे क्रोधादिक कषाय कहलाते हैं। संसारके कारणरूप आस्रवोंको सांपरायिक आस्रव कहते हैं। और स्थितिरहित कर्मोंके आस्रव होनेको ईर्यापथ आस्रव कहते हैं ॥ ४ ॥

इंद्रियकषायाव्रतक्रियाः पंचचतुःपंचपंचविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥ ५ ॥

अर्थ-(इंद्रियकषायाव्रतक्रियाः पंचचतुःपंचपंचविंशति-संख्याः) पांच इंद्रिय, चार कषाय, पांच अव्रत और पच्चीस क्रिया ये सब (पूर्वस्य) पहले सांपरायिक आस्रवके (भेदाः) भेद हैं। इनमेंसे पांच इंद्रियें तो पहले कही जा चुकी हैं। और क्रोधादिक कषाय तथा हिंसादिक पांच अव्रत आगे कहेंगे। यहां पच्चीस क्रिया कहते हैं;-

देव, गुरु और शास्त्रकी पूजा, भक्ति करना सम्यक्त्वक्रिया है ॥ १ ॥ कुदेव, कुगुरु और कुश्रुतकी स्तुति आदि करना मिथ्यात्वक्रिया है ॥ २॥ कायादिकसे गमनागमनादिरूप प्रवर्तना प्रयोगक्रिया है ॥३॥ संयमीका अविरतिके सम्मुख होना समादानक्रिया है ॥४॥ ईर्यापथ अर्थात् गमनकेलिए जो क्रिया करना सो ईर्यापथक्रिया है ॥ ५ ॥ क्रोधके आवेशसे जो क्रिया करना, सो प्रादोषिकीक्रिया है ॥ ६ ॥ दुष्टताकेलिए उद्यम करना कायि-

---

उपशांतकषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली तथा अयोगकेवली गुणस्थान वालोंके ईर्यापथ आस्रव होता है, क्योंकि वहां कषायका उदय नहीं रहता है।

कीक्रिया है ॥७॥ हिंसाके उपकरण शस्त्रादिकका ग्रहण करना अधिकरणकीक्रिया है ॥ ८ ॥ अपने वा परके दुःखोत्पत्तिके कारण मिलाना पारितापिकीक्रिया है ॥ ९ ॥ आयु, इंद्रिय, बल, प्राणोंका वियोग करना प्राणातिपातिकाक्रिया है ॥ १० ॥ रागाधिकताके कारण प्रमादी होकर रमणीय रूपका अवलोकन करना दर्शनक्रिया है ॥ ११ ॥ प्रमादके कारण वस्तुके स्पर्शनार्थ प्रवर्त्तना स्पर्शनक्रिया है । १२॥ विषयोंके नये नये कारण मिलाना प्रात्ययिकीक्रिया है ॥१३॥ स्त्री पुरुषों वा पशुओंके बैठने, सोने वा प्रवर्त्तनेके स्थानमें मलमूत्रादि क्षेपण करना समंतानुपातक्रिया है ॥१४॥ विना देखी शोधी भूमिपर बैठना, शयन करना आदि अनाभोगक्रिया है ॥ १५ ॥ परके करने योग्य क्रियाको स्वयं करना स्वहस्तक्रिया है ॥ १६ ॥ पापोत्पादक प्रवृत्तिको भला समझना वा आज्ञा करना निसर्गक्रिया है ॥ १७ ॥ आलस्यसे प्रशस्तक्रिया न करना अथवा अन्यके किये हुए पापाचरणका प्रकाश करना विदारणक्रिया है ॥ १८ ॥ चारित्रमोहके उदयसे परमागमकी आज्ञानुसार प्रवर्त्तनेमें असमर्थ होकर अन्यथा प्ररूपण करना आज्ञाव्यापादिकीक्रिया है ॥ १९ ॥ प्रमादसे वा अज्ञानतासे परमागमकी उपदेश की हुई विधिमें अनादर करना अनाकांक्षाक्रिया है ॥२०॥ छेदने, भेदने, छीलने आदिकी क्रियामें तत्परता होना तथा अन्यके आरंभ करनेमें हर्ष मानना प्रारंभक्रिया है ॥ २१ ॥ परिग्रहकी रक्षाकेलिए प्रवृत्ति करना पारिग्रहिकीक्रिया है ॥२२॥ ज्ञानदर्शनादिकमें कपटरूप उपाय करना मायाक्रिया है ॥२३॥ कोई मिथ्यात्वका कार्य करना वा करनेवालेको उस कार्यमें दृढ कर

देना मिथ्यादर्शनक्रिया है ॥ २४ ॥ संयमको घात करनेवाले कर्मके उदयसे संयमरूप नहीं प्रवर्त्तना अप्रत्याख्यानक्रिया है ॥२५॥ ये पच्चीसों क्रियाएं सांपरायिक आस्रवकी कारण हैं ॥५॥

तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ६

अर्थ—(तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यः) तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरण और वीर्य इनकी विशेषतासे (तद्विशेषः) उस आस्रवमें विशेषता (न्यूनाधिकता) होती है। बाह्याभ्यंतर कारणोंसे बढे हुए क्रोधादिकसे जो तीव्रतारूप परिणाम होते हैं, उनको **तीव्रभाव** कहते हैं। कषायोंकी मन्दतासे जो मन्दतारूप भाव होते हैं, उन्हें **मन्दभाव** कहते हैं। ज्ञानपूर्वक प्रवृत्ति होनेको **ज्ञातभाव** कहते हैं। मद्य पानादिकसे अथवा इंद्रियोंको मोहित करनेवाले मदसे असावधानतासे गमनादिकमें प्रवृत्ति करनेको **अज्ञातभाव** कहते हैं। जिसके आधार पुरुषोंका प्रयोजन हो, उसको **अधिकरण** कहते हैं। और द्रव्यकी शक्तिको **वीर्य** कहते हैं। इन सबकी न्यूनाधिकतासे आस्रवोंमें विशेषता होती है ॥ ६ ॥

आगे अधिकरणोंको स्पष्ट करनेकेलिये सूत्र कहते हैं;—

अधिकरणं जीवाऽजीवाः ॥ ७ ॥

अर्थ—(अधिकरणम्) आस्रवका आधार (जीवाजीवाः) जीव और अजीव दोनों हैं ॥ ७ ॥

आगे जीवाधिकरणके भेद कहते हैं;—

आद्यं संरंभसमारंभारंभयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषै-स्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥ ८ ॥

अर्थ-(आद्यं) आदिका जीवाधिकरण जो है वह (संरंभ समारंभारंभयोगकृतकारितानुमतकपायविशेषैः) संरम्भ समारम्भ आरम्भ, मनोयोग वचनयोग काययोग, कृत कारित अनुमोदना और क्रोध मान माया लोभरूप कषायोंके विशेषसे (एकशः) एक एकके (त्रिः त्रिः त्रिः चतुः) तीन, तीन, तीन और चार भेद होनेसे एक सौ आठ प्रकारका है। अर्थात् संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ इन तीनोंको मन, वचन कायरूप योगों की संख्यासे गुणनेसे नौ तथा कृत, कारित और अनुमोदना इन तीनोंसे गुणनेसे सत्ताईस और क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायोंसे गुणनेसे एक सौ आठ भेद होते हैं। हिंसादिक करनेके उद्यमरूप परिणाम करना संरम्भ है। हिंसादिकके साधनोंका अभ्यास करना, उनकी सामग्री मिलाना समारम्भ है। और हिंसादिकमें प्रवृत्त हो जाना आरम्भ है। स्वयं करै सो कृत है। दूसरेसे करावै सो कारित हैं। और दूसरेके किये कार्यकी प्रशंसा करै सो अनुमत वा अनुमोदना है। जैसे १ क्रोधकृतकायसंरम्भ, २ मानकृतकायसंरम्भ, ३ मायाकृतकायसंरम्भ, ४ लोभकृतकायसंरम्भ, ५ क्रोधकारितकायसंरम्भ, ६ मानकारितकायसंरम्भ, ७ मायाकारितकायसंरम्भ, ८ लोभकारितकायसंरम्भ ९ क्रोधानुमतकायसंरम्भ, १० मानानुमतकायसंरम्भ, ११ मायानुमतकायसंरम्भ और १२ लोभानुमतकायसंरम्भ, इस प्रकार बारह भेद कायसंरम्भके हुए। इसीप्रकार बारह भेद वचनसंरम्भके और बारह भेद मनःसंरम्भके मिलानेपर संरम्भके छत्तीस भेद हुए। उनमें छत्तीस भेद समारम्भके और छत्तीस भेद आरम्भके मिलानेसे सब एक

सौ आठ भेद होते हैं। सूत्रमें जो 'च' शब्द है, वह अंतरंग भेदोंके संग्रहार्थ है। प्रत्येक कषायके अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन ये चार चार भेद हैं। इनसे गुणा करनेसे चार सौ बत्तीस भेद होते हैं। इसप्रकार जीवके परिणामोंके भेदसे आस्रवोंके भी भेद होते हैं ॥ ८ ॥

निर्वर्त्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम् ॥ ९

अर्थ—(परं) पर अर्थात् अजीवाधिकरण (निर्वर्त्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गाः) निर्वर्त्तनाधिकरण, निक्षेपाधिकरण, संयोगाधिकरण और निसर्गाधिकरण इसप्रकार चार भेदरूप है। सो (द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः) क्रमसे दो, चार, दो और तीन भेदोंवाला है। अर्थात् निर्वर्त्तनादि अधिकरणोंके क्रमसे दो, चार, दो और तीन भेद हैं। निर्वर्त्तनाधिकरण रचना करने वा उत्पन्न करनेको कहते हैं। शरीरसे कुचेष्टा उत्पन्न करना देहदुःप्रयुक्तनिर्वर्त्तनाधिकरण है। हिंसाके उपकरण शस्त्रादिकोंकी रचना करना उपकरणनिर्वर्त्तनाधिकरण है। निर्वर्त्तनाधिकरणके मूलगुणनिर्वर्त्तना और उत्तरगुणनिर्वर्त्तना इसप्रकार भी दो भेद हैं। शरीर, मन, वचन और श्वासोच्छ्वासोंका उत्पन्न करना मूलगुणनिर्वर्त्तना है। और काष्ठ पुस्त अर्थात् मिट्टी पाषाणादिसे मूर्ति आदिकी रचना करना वा चित्रपटादि बनाना उत्तरगुणनिर्वर्त्तनाधिकरण है। निक्षेप नाम धरने वा रखनेका है। उसके १ सहसानिक्षेपाधिकरण २ अनाभोग-

---

१ इन ही एक सौ आठ आरंभजनित पापास्रवोंको दूर करनेके लिए अथवा इन एक सौ आठ आरंभोंको छोडकर धर्मध्यानमें उपयोग लगानेके लिये माला (जाप) में एक सौ आठ दाने होते हैं।

निक्षेपाधिकरण ३ दुःप्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण और ४ अप्रत्यवेक्षित निक्षेपाधिकरण ये चार भेद हैं। भयादिकसे अथवा अन्य कार्य करनेकी शीघ्रतासे पुस्तक, कमंडलु, शरीर तथा शरीरके मल आदि क्षेपनेको **सहसानिक्षेपाधिकरण** कहते हैं। शीघ्रता न होनेपर भी यहां जीव जन्तु हैं कि नहीं हैं ऐसा विचार न करे विना देखे ही पुस्तक कमंडलु आदि रखने डालने तथा धरनेको और योग्य स्थानमें न रखकर जहां तहां विना देखे ही रखनेको **अनाभोगनिक्षेपाधिकरण** कहते हैं। दुष्टतासे तथा यत्नाचाररहित होकर उपकरणादिकके रखने वा डालनेको **दुःप्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण** कहते हैं। बिना देखे ही वस्तुका निक्षेपण करना **अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण** है। **संयोग** नाम जोडने वा मिलानेका है। यह संयोगाधिकरण दो प्रकारका है, १ उपकरणसंयोजना और २ भक्तपानसंयोजना। शीतस्पर्शरूप पुस्तक कमण्डलु शरीरादिकको तपी हुई पीछीसे पोंछना शोधना **उपकरणसंयोजना** है। पान भोजनको अन्य पान भोजनमें मिलाना वा परस्पर मिलाना **भक्तपानसंयोजना** है। **निसर्गाधिकरण** तीन प्रकारका है— १ मनोनिसर्गाधिकरण, २ वाग्निसर्गाधिकरण और ३ कायनिसर्गाधिकरण। दुष्ट प्रकारसे मनको प्रवर्त्ताना **मनोनिसर्गाधिकरण** है। दुष्ट प्रकारसे वचनको प्रवर्त्ताना **वाग्निसर्गाधिकरण** है। और दुष्ट प्रकारसे शरीरको हिलाना चलाना **कायनिसर्गाधिकरण** है। ऐसे ग्यारहप्रकारके अजीवाधिकरण हैं। जीव और अजीव इन दो अधिकरणोंके आश्रयसे कर्मोंका आगमन (आस्रव) होता है। अतएव इन दोनो अधिकरणोंके भावोंके ये सब विशेष भेद हैं॥ ९॥

ये सामान्य आस्रवके भेद कहे। अब ज्ञानावरणादि विशेष आस्रवोंके कारण कहते हैं—

तत्प्रदोषनिन्हवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ॥ १० ॥

अर्थ—(तत्प्रदोषनिन्हवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाताः) ज्ञान तथा दर्शनके विषयमें प्रदोष, निन्हव, मात्सर्य, अंतराय, आसादन और उपघात ये (ज्ञानदर्शनावरणयोः) ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मके आस्रव होनेके कारण हैं। कोई पुरुष मोक्षके कारणीभूत तत्वज्ञानकी प्रशंसायोग्य कथनी कर रहा हो परन्तु उसको सुनकर ईर्षाभावसे प्रशंसा नहीं करे या मौन रक्खे; इस प्रकारके भावको प्रदोष कहते हैं। जो स्वयं शास्त्रोंका जानकार विद्वान् हो उसे कोई पुरुष जाननेकेलिए पूछे कि, अमुक पदार्थका स्वरूप क्या है? तो कह दे कि 'मैं इस विषयको नहीं जानता'। इस प्रकार शास्त्रज्ञान के छिपानेका नाम निन्हवभाव है। यह पढकर पंडित हो जायगा तो मेरी बराबरी करेगा, इस अभिप्रायसे किसीको पढाना नहीं सो मात्सर्यभाव है। किसीके ज्ञानके अभ्यासमें विघ्न कर देना पुस्तक पाठक पाठशाला स्थान आदिका विच्छेद कर देना अथवा जिस कार्यसे ज्ञानका (विद्याका) प्रचार होनेवाला हो उस कार्यका विरोध करना वा विगाड देना अंतराय है। अन्यके द्वारा प्रकाशित किए हुए ज्ञानको वर्जन करना—रोक देना कि 'अभी इस विषयको मत कहो' इत्यादि भावको आसादन कहते हैं। और प्रशंसनीय ज्ञानको दूषण लगाना उपघात है। इन छह कारणोंसे यदि ये ज्ञानके विषयमें हों तो ज्ञानावरणकर्मोंका और दर्शन

के विषयमें हों तो दर्शनावरणकर्मोंका आस्रव होता है । यद्यपि आयुकर्मके सिवाय सात कर्मोंका तो हर समय आस्रव होता है तथापि स्थिति (कालकी मर्यादा) बंध तथा अनुभाग (फल देनेकी शक्ति) बन्धकी अपेक्षा विशेष कारण कहे गये हैं। अर्थात् ऐसे कर्मोंके करनेसे ज्ञानावरणादि कर्मोंमें स्थिति तथा अनुभाग बन्ध अधिक होता है ॥ १० ॥

दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्य ॥ ११ ॥

अर्थ-(दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनानि) दुःख, शोक ताप, आक्रन्दन, वध, परिदेवन ये (आत्मपरोभयस्थानि) आप करनेसे, अन्यको करनेसे, तथा दोनोंको एक साथ उत्पन्न करनेसे (असद्वेद्यस्य) असातावेदनीय कर्मका आस्रव होता है । पीडा रूप परिणामको दुःख कहते हैं । अपने उपकारक द्रव्यके वियोग होनेपर परिणाम मलिन करना, चिंता करना, खेदरूप होना शोक है। निंद्य कार्य करनेसे अपनी निंदा होनेपर पश्चात्ताप करना ताप है । परितापके कारण अश्रुपातपूर्वक विलाप करना वा रोना आक्रन्दन है । आयु, इंद्रिय, बल, प्राण, आदिकका वियोग करना वध है । और ऐसा विलाप करना कि सुननेवालेके चित्तमें दया उत्पन्न हो जाय वह परिदेवन है । इत्यादि अनेक कारणोंसे असाता वेदनीय कर्मका आस्रव होता है ॥ ११ ॥

भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षांतिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ॥ १२ ॥

अर्थ- (भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः) भूत-

त्यनुकंपा, दान, सरागसंयमादियोग, (क्षांतिः) क्षमा और (शौचम्) शौच (इति) इस प्रकारके भावोंसे (सद्वेद्यस्य) सातावेदनीयकर्मका आस्रव होता है। भूतोंके अर्थात् चारो गतियोंके जीवोंके और व्रतियोंके अर्थात् अहिंसादिक व्रतोंके धारण करनेवालोंके दुःखको देखकर उन दुःखोंके दूर करनेरूप परिणामोंको भूतव्रत्यनुकंपा; परके तथा अपने उपकारार्थ धन औषधि आहारादिक देनेको दान; और दुष्ट कर्मोंको नष्ट करनेमें राग करनेरूप संयमको अथवा रागसहित संयमको सरागसंयम कहते हैं। 'आदि' शब्दसे संयमासंयम, अकामनिर्जरा, बालतप आदिक समझना चाहिये। इन सबके अनिंद्य आचरणका नाम योग है। शुभ परिणामोंकी भावनासे क्रोधादि कषायोंका जो अभाव सो क्षमा है और लोभके त्यागको शौच कहते हैं ॥ १२ ॥

मोहनीयकर्म दो प्रकारका है—एक दर्शनमोहनीय और दूसरा चारित्रमोहनीय। इनमेंसे पहले अनंतसंसारके कारणस्वरूप दर्शनमोहनीयके आस्रवके कारण कहते हैं;—

केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥ १३ ॥

अर्थ—(केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादः) केवलज्ञानीका, शास्त्रका मुनियोंके संघका, अहिंसामय धर्मका और देवोंका अवर्ण-

---

१ पांचो इंद्रियोंको और मनको वश करना और छह कायके जीवोंको वश करना संयम है। २ एकदेश त्याग करनेको तथा विना प्रयोजनके विषयोंके त्यागको संयमासंयम कहते हैं। ३ अपने अभिप्रायसे त्याग न होते हुए भी पराधीनतासे भोगोपभोगका निरोध होना अकामनिर्जरा है। ४ तत्त्वोंके यथार्थ स्वरूपसे अनभिज्ञ मिथ्यादृष्टिको बाल और उसके तपको बालतप कहते हैं।

वादे करना (दर्शनमोहस्य) दर्शनमोहनीयकर्मके आस्रवका कारण है। केवलज्ञानीके क्षुधा, तृषा, आहार, नीहार आदि दोष कहना, कंबलादि वस्त्र तथा पात्रादि मानना केवलीका अवर्णवाद है। 'शास्त्रमें मद्य मांस मधु आदिके सेवनका उपदेश है', 'वेदनासे पीडितके लिये मैथुनसेवन रात्रिभोजनादिक कहा है'; इत्यादि दोष लगाना शास्त्रका अवर्णवाद है। देहसे निर्ममत्व निर्ग्रंथ वीतराग मुनीश्वरोंके संघको अपवित्र निर्लज्ज आदि कहना संघका अवर्णवाद है। अहिंसामय जैनधर्मके सेवन करनेवाले सब असुर होते हैं अथवा होंगे ऐसा कहना धर्मका अवर्णवाद है। देवोंको मांसभक्षी, सुरापायी, कवल भोजन करनेवाले तथा मानुषीसे काम सेवनादि करनेवाले कहना देवोंका अवर्णवाद है। इन कारणोंसे दर्शनमोहनीयकर्मका आस्रव होता है ॥ १३ ॥

कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥ १४ ॥

अर्थ-(कषायोदयात्) कषायोंके उदयसे (तीव्रपरिणामः) तीव्रपरिणाम होना (चारित्रमोहस्य) चारित्रमोहनीय कर्मके आस्रवका कारण है। आत्मज्ञानी तपस्वियोंकी निंदा करना, धर्मको नष्ट करना, धर्मसाधनमें अंतराय करना, ब्रह्मचारियोंको ब्रह्मचर्यसे चिगाना, देशव्रती महाव्रतियोंको व्रतोंसे चलायमान करना, मद्यमांस-मधुके त्यागीको भ्रम पैदा कराना, उत्तम चारित्रमें तथा प्रतिष्ठा और यशःकीर्तिमें दूषण लगाना इत्यादि तीव्र परिणामोंके कार्य हैं। इन कार्योंसे चारित्रमोहनीयकर्मका आस्रव होता है ॥ १४ ॥

---

१ जो दोष न हों, उनका होना बतलाना अवर्णवाद है। वर्णका अर्थ सचारूप अवर्णका मिथ्यारूप अर्थ है।

अब आयुकर्मके आस्रवके कारणोंको कहते हैं,—

बह्वारंभपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥ १५ ॥

अर्थ—(बह्वारंभपरिग्रहत्वं) बहुत आरंभ करना और बहुत परिग्रह रखना (नारकस्य) नारकीकी (आयुषः) आयुके आस्रवका कारण है ॥ १५ ॥

माया तैर्यग्योनस्य ॥ १६ ॥

अर्थ—(माया) चारित्रमोहके उदयसे उत्पन्न हुआ कुटिल स्वभाव (तैर्यग्योनस्य) तिर्यंच योनिकी आयुके आस्रवका कारण होता है। जो मनमें और विचारे, वचनसे और ही कहे और शरीर से और ही प्रवृत्ति करे, उसको मायाचारी कहते हैं ॥ १६ ॥

अल्पारंभपरिग्रहत्वं मानुषस्य ॥ १७ ॥

अर्थ—(अल्पारंभपरिग्रहत्वं) थोडा आरंभ करना और थोडा परिग्रह (तृष्णा) रखना (मानुषस्य) मनुष्य आयुके आस्रवका कारण है ॥ १७ ॥

स्वभावमार्दवं च ॥ १८ ॥

अर्थ—(स्वभावमार्दवं) स्वाभाविक कोमलता (च) भी मनुष्यायुके आस्रवका कारण है ॥ १८ ॥

निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् ॥ १९ ॥

अर्थ—(च) और (निःशीलव्रतत्वं) दिग्व्रत, देशव्रत आदिक सात शील तथा अहिंसादिक पांच व्रतोंका धारण नहीं करना (सर्वेषां) चारो गतियोंके आस्रवका कारण है ॥ १९ ॥

सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य ॥२०

---

१ ' तिर्यग्योनौ भवं तैर्यग्योनम् ' अण् ।

अर्थ—(सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि) सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप (दैवस्य) देवायुके आस्रवके कारण हैं। कर्मोंके नाश करनेमें तथा व्रतादिक शुभाचरण करनेमें रागसहित भाव होना **सरागसंयम** है। त्रसहिंसाका त्यागरूप संयम और स्थावरहिंसाका अत्यागरूप असंयम, इसप्रकार संयम और असंयम दोनों प्रकारके परिणाम होना **संयमासंयम** है। पराधीनतासे क्षुधा तृषादिकी पीडा भोगना, मारण ताडन आदि सहना, परितापादि दुःख भोगनेका मंदकषायरूप भाव होना **अकामनिर्जरा** है। आत्मज्ञानरहित तप करना **बालतप** (अज्ञानतप) है। इनसे तथा हितैषी कल्याण करनेवाले मित्रोंका संबंध करनेसे, धर्मायतनोंको सेवनेसे, सत्यधर्मके श्रवणसे, प्रशंसासे और प्रभावना आदिकसे देवायुका आस्रव होता है॥ २० ॥

सम्यक्त्वं च ॥ २१ ॥

अर्थ— (सम्यक्त्वं) सम्यग्दर्शन (च) भी देवायुका कारण है। परन्तु जुदा कहनेसे कल्पवासी देवोंकी आयुका ही वह कारण है, ऐसा जानना ॥ २१ ॥

योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः ॥ २२ ॥

अर्थ—(योगवक्रता) मनवचनकायके योगोंकी वक्रता वा कुटिलता (च) और (विसंवादनं) अन्यथा प्रवृत्ति ये (अशुभस्य नाम्नः) अशुभ नामकर्मके आस्रवके कारण हैं ॥२२

तद्विपरीतं शुभस्य ॥ २३ ॥

अर्थ (तद्विपरीतं) योगवक्रता और विसंवादसे विपरीत— मन-वचन-कायकी सरलता और विसंवादका अभाव (शुभस्य)

शुभनामकर्मके आस्रवका कारण है ॥ २३ ॥

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतीचारोऽभीक्ष्ण- ज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्य- करणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्र- भावनाप्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ॥ २४ ॥

अर्थ-(दर्शनविशुद्धिः) १ पच्चीसे[1] दोषरहित निर्मल सम्यक्त्व, (विनयसम्पन्नता) २ दर्शन, ज्ञान और चारित्रमें तथा दर्शन, ज्ञान और चारित्रके धारकोंमें तथा देव, शास्त्र, गुरु और धर्ममें प्रत्यक्ष व परोक्ष विनय करना अथवा कषायका अभाव करके आत्माको मार्दवरूप करना; (शीलव्रतेष्वनतीचारः) ३ अहिंसादि व्रतोंमें तथा उनके प्रतिपालन करनेवाले क्रोधवर्जनादि शीलोंमें निरतिचार प्रवृत्ति रखना; (अभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ) ४ निरंतर तत्त्वा- भ्यास करते रहना; ५ संसारके दुःखोंसे भयभीत होना; (शक्तितः त्यागतपसी) ६ शक्तिको नहीं छिपाकर यथाशक्ति दान करना; ७ कायक्लेशादि तप करना; (साधुसमाधिः) ८ मुनियोंके विघ्न और कष्टको दूर करके उनके संयमकी रक्षा करना; (वैयावृत्य- करणम्) ९ रोगी साधुमुनिगणोंकी सेवा (चाकरी) करना; (अर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिः) १० अरहंतवीतरागकी भक्ति अर्थात् गुणोंमें अनुरागरूप अर्हद्भक्ति, ११ संघमें दीक्षाशिक्षाके देनेवाले संघाधिपति आचार्योंके गुणोंमें अनुरागरूप आचार्यभक्ति, १२ उपाध्याय महाराजके गुणोंमें अनुरागरूप बहुश्रुतभक्ति, १३

---

[1] शंका कांक्षा आदि आठ दोष, आठ मद, षट अनायतन और तीन मूढता-- ये पचीस दोष हैं।

और शास्त्रके गुणोंमें अनुरागरूप प्रवचनभक्ति; (आवश्यकापरिहाणिः) १४ सामायिक स्तवन वन्दना प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छह आवश्यकीय क्रियाओंमें हानि नहीं करना; (मार्गप्रभावना) १५ स्याद्वादविद्याध्ययनपूर्वक परमतके अज्ञान अन्धकारको दूर करके जैनधर्मका प्रभाव बढाना व वृद्धिरूप करना; और (प्रवचनवत्सलत्वम्) १६ साधर्मी जीवोंके साथ गऊवछडेके समान प्रीति करना—इसप्रकार सोलह भावनाएं (तीर्थकरत्वस्य) तीर्थंकरप्रकृतिके आस्रवका कारण हैं। इन सोलह भावनाओंमेंसे कुछ न्यून हों, तो भी तीर्थंकरप्रकृतिका आस्रव होता है। परन्तु उनमें दर्शनविशुद्धि अवश्य चाहिए ॥ २४ ॥

परात्मनिंदाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥ २५ ॥

अर्थ—(परात्मनिंदाप्रशंसे) परकी निंदा और अपनी प्रशंसा करना, [च] और (सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने) परके विद्यमान गुणोंका आच्छादन करना और अपने अविद्यमान गुणोंका प्रकाश करना (नीचैर्गोत्रस्य) नीचगोत्रकर्मके आस्रवके कारण हैं ॥ २५ ॥

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥ २६ ॥

अर्थ—(तद्विपर्ययः) नीचगोत्रके आस्रवोंके विपरीत कारण अर्थात् अपनी निंदा, परकी प्रशंसा तथा अपने गुण ढकना, परके गुण प्रकाश करना [च] और [नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ] नीचैर्वृत्ति

---

१ 'गुणोत्कृष्टेषु विनयेन अवनतिर्नीचैर्वृत्तिः'—गुणोंमें जो बडे हों, उनके साथ विनयरूप रहनेको नीचैर्वृत्ति कहा है।

और उत्सेकताका अभाव, ये [उत्तरस्य] उत्तरके अर्थात् उच्चगोत्रकर्मके आस्रवके कारण हैं ॥ २६ ॥

विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥ २७ ॥

अर्थ— (विघ्नकरणम्) परके दान भोगादिकमें विघ्न करना (अन्तरायस्य) अन्तरायकर्मके आस्रवका कारण है । अर्थात् दान देनेमें विघ्न करनेसे दानांतराय कर्मका आस्रव होता है । परके लाभमें विघ्न डालनेसे लाभांतराय कर्मका आस्रव होता है । परके बल वीर्य बिगाडनेसे वीर्यांतराय कर्मका आस्रव होता है । परके भोग उपभोगके कारणोंको बिगाडनेसे भोगांतराय और उपभोगांतराय कर्मका आस्रव होता है ॥ २७ ॥

इस प्रकार आठो कर्मोंके आस्रव होनेके प्रधान प्रधान कारण कहे गये । विशेष कारण असंख्यात हैं ।

इति श्रीमदुमास्वामिविरचिते तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

सप्तम-अध्याय[२]

हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥ १ ॥

अर्थ— (हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यः) हिंसा, अनृत, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह इनसे (विरतिः[३]) बुद्धिपूर्वक विरक्त

---

१ ' विज्ञानादिभिरुत्कृष्टस्यापि सतस्तत्कृतमदविरहोऽनहंकारतानुत्सेकः'—गुणोंमें आप बडा होकर मद नहीं करनेको अनुत्सेक कहते हैं । २ सामान्य आस्रवका कथन करके विशेष शुभ आस्रवका कथन करनेकेलिये इस अध्यायका प्रारम्भ करते हैं । जीव अशुभ शुभ तथा शुद्ध उपयोगवाले इसप्रकार तीन जातिके होते हैं । ३ उससे हटना—उसे न करना ।

होना (व्रतम्) व्रत है ॥ १ ॥

देशसर्वतोऽणुमहती ॥ २ ॥

अर्थ— (देशसर्वतः) एकदेश हिंसादिकोंसे और सर्वप्रकार हिंसादिकोंसे विरक्त होना, क्रमसे (अणुमहती) अणुव्रत और महाव्रत हैं। भावार्थ— इन पांचो पापोंका एकदेश त्याग करना अणुव्रत है और मन वचन काय कृत कारित अनुमोदनासे सर्वथा त्याग करना महाव्रत है ॥ २ ॥

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पंच पंच ॥ ३ ॥

अर्थ—(तत्स्थैर्यार्थं) इन व्रतोंको स्थिर रखनेके लिये प्रत्येक व्रतकी (पंच पंच) पांच पांच (भावनाः) भावनाएं हैं। बार बार चिंतवन करनेको भावना कहते हैं ॥ ३ ॥

अब क्रमसे अहिंसादिव्रतोंकी जुदी जुदी भावनाएं कहते हैं—

वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पंच ॥ ४ ॥

अर्थ— (वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपान-भोजनानि) वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपण-समिति और आलोकितपानभोजन ये (पंच) पांच अहिंसाव्रतकी भावनाएं हैं। वचनकी प्रवृत्तिको भले प्रकार रोकना सो वचनगुप्ति है। मनकी प्रवृत्तिको भले प्रकार रोकना सो मनोगुप्ति है। चार

---

२ देशश्च सर्वं चेति देशसर्वे देशसर्वेभ्यः इति देशसर्वतः। अणु च महच्चेति अणुमहती। देशेभ्यो हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिरणुव्रतम्। सर्वेभ्यो हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्महाव्रतमित्यर्थः।

हाथ पर्यंत पृथिवीको देखकर यत्नाचारपूर्वक चलना सो ईर्यासमिति है। भूमिको जीवरहित देखकर वस्तुको यत्नाचारपूर्वक उठाना वा रखना वा छोडना सो आदाननिक्षेपणसमिति है। आहार पान आदिकको अन्तरंगकी ज्ञानदृष्टिसे वा नेत्रदृष्टिसे देख शोधकर भोजन पान करना सो आलोकितपानभोजन है ॥ ४ ॥

क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पंच ॥ ५ ॥

अर्थ-(क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानानि) क्रोधका त्याग, लोभका त्याग, भयका त्याग, हास्यका त्याग (च) और (अनुवीचिभाषणं) सूत्रके अनुसार निर्दोष (शास्त्रानुसार) बोलना ये (पंच) पांच सत्यव्रतकी भावनाएँ हैं ॥ ५ ॥

शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्माऽविसंवादाः पंच ॥ ६ ॥

अर्थ-(शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्माविसंवादाः) खाली घरमें रहना, किसीके छोडे हुए स्थानमें रहना, अन्यको रोकना नहीं, शास्त्रविहित भिक्षाकी विधिमें न्यूनाधिक नहीं करना और साधर्मी भाइयोंसे विसंवाद नहीं करना ये (पंच) पांच अचौर्यव्रतकी भावनाएं हैं ॥ ६ ॥

स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहरांगनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पंच ॥ ७ ॥

अर्थ- (स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहरांगनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः) स्त्रियोंमें प्रीति उत्पन्न करनेवाली कथाओंके सुननेका त्याग, स्त्रियोंके मनोहर अंगोंको राग

सहित देखनेका त्याग, पूर्व कालमें किये हुये विषयभोगोंके स्मरण करनेका त्याग,कामोद्दीपन करनेवाले पुष्टिकर और इंद्रियोंको लालसा उत्पन्न करनेवाले रसोंका त्याग और शरीरको शृंगारयुक्त करनेका त्याग ये (पंच) पांच ब्रह्मचर्यव्रतकी भावनाएं हैं ॥ ७ ॥

मनोज्ञामनोज्ञेंद्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पंच ॥ ८ ॥

अर्थ-(मनोज्ञामनोज्ञेंद्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि) पांचो इंद्रियोंके स्पर्श रसादिक इष्ट वा अनिष्टरूप पांचो विषयोंमें रागद्वेषका त्याग करना (पंच) पांच परिग्रहत्यागव्रतकी भावनाएं हैं । इन भावनाओंके भानेसे व्रतोंकी दृढता होती है ॥ ८ ॥

अब अहिंसादि पांचों व्रतोंसे उलटे हिंसादि पापोंमें कैसी भावना रखना चाहिए, यह बताते हैं:—

हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ॥ ९ ॥

अर्थ-(हिंसादिषु) हिंसादि पांचो पापोंके होनेसे (इह) इस लोकमें तथा (अमुत्र) परलोकमें (अपायावद्यदर्शनम्) राजदंड पंचदंड आदि आपत्तियां तथा छेदन भेदन आदि निंद्य कष्ट देखने सहने पडते हैं, इसप्रकार चिंतवन करै ॥ ९ ॥

दुःखमेव वा ॥ १० ॥

अर्थ-(वा) अथवा, हिंसादि पांच पाप (दुःखं एव) दुःख-रूप ही हैं, इसप्रकार भावना करना । यहां कारणमें कार्यका उपचार कर हिंसादि पापोंको दुःख कहा है ॥ १० ॥

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाऽविनयेषु ॥ ११ ॥

अर्थ-(मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च) मैत्री, प्रमोद

कारुण्य और माध्यस्थ्य ये चार भावनाएं भी क्रमसे (सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाऽविनयेषु) सर्वसाधारण जीवोंमें, गुणाधिकोंमें, दुःखियोंमें और अविनयी वा मिथ्यादृष्टियोंमें करनी चाहिये। भावार्थ सर्वसाधारण जीवोंसे मैत्रीभाव रखना मैत्रीभावना है। जो गुणोंमें अधिक हों, उनमें प्रमोद भावना रखना अर्थात् अपनेसे अधिक विद्वानों वा धर्मात्माओंको देखते मुखादिकसे प्रसन्नता प्रगट करना तथा हर्षित होकर उनके गुणोंमें अनुरक्त हो भक्ति प्रगट करना प्रमोदभावना है । रोगादिकसे पीडित वा दुःखित जीवोंपर करुणाबुद्धि रखना वा उनके रोग दुःखादि दूर होने वा करनेका अभिप्राय रखना कारुण्यभावना है । जो जीव तत्त्वार्थके उपदेशको ग्रहण करने योग्य नहीं हों—अविनयी हों, उनमें रागद्वेष-रहित मध्यस्थ भाव रखना माध्यस्थ्यभावना है ॥ ११ ॥

जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ॥ १२ ॥

अर्थ-(वा) अथवा (संवेगवैराग्यार्थं) संवेग और वैराग्यके लिये (जगत्कायस्वभावौ) जगत् और कायके स्वभावका भी वारंवार चिंतवन करना चाहिए ॥ १२ ॥

अब क्रमसे पांचों पापोंके लक्षण कहते हैं,—

प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥ १३ ॥

अर्थ-(प्रमत्तयोगात्) प्रमादके[1] योगसे (प्राणव्यपरोपणं) भावप्राण वा द्रव्यप्राणोंका वियोग करना (हिंसा) हिंसा है। कषाय सहित भाव होनेको अर्थात् आत्माके रागद्वेषरूप परिणाम होनेको

---

१ पांच इंद्रिय, चार कषाय, चार विकथा, रागद्वेष और निद्रा इसप्रकार पंद्रह प्रमाद हैं।

प्रमत्त कहते हैं। आत्माके ज्ञान दर्शनादिक स्वभावोंको भावप्राण कहते हैं। श्वास उच्छ्वासादिकको द्रव्यप्राण[1] कहते हैं॥ १३॥

असदभिधानमनृतम्॥ १४॥

अर्थ-[असदभिधानं] किसी जीवको दुःख देनेवाला अप्रशस्त[2] वचन कहना (अनृतम्) अनृत अर्थात असत्य है॥१४॥

अदत्तादानं स्तेयम्॥ १५॥

अर्थ-लोभादि प्रमादोंके योगसे (अदत्तादानं) दूसरोंके धन धान्यादि पदार्थ विना दिये हुए ग्रहण करना (स्तेयम्) स्तेय अर्थात् चोरी है॥ १५॥

मैथुनमब्रह्म॥ १६॥

अर्थ-रागादि प्रमादोंके योगसे [मैथुनं] स्त्रीपुरुषोंकी परस्पर स्पर्शनादिरूप क्रिया [अब्रह्म] अब्रह्म अर्थात् कुशील है॥१६॥

मूर्च्छा परिग्रहः॥ १७॥

अर्थ-(मूर्च्छा) चेतनअचेतनरूप परिग्रहमें ममत्वरूप परिणाम (परिग्रहः) परिग्रह है। भावार्थ- बाह्यमें स्त्री पुत्र दासी सेवक परिवार गाय भैंस हाथी घोडा धन धान्य सुवर्ण रूपा मणि मोती शय्या आसन गृह आभरण वस्त्रादिकोंमें तथा अभ्यन्तरमें रागादिक परिणामोंमें जो उपार्जन-संस्कारादिरूप ममत्वभाव होता है, उसे मूर्च्छा कहते हैं, वही परिग्रह है॥ १७॥

निःशल्यो व्रती॥ १८॥

अर्थ-(निःशल्यः) जो शल्यरहित है वही (व्रती) व्रती

---

१ पांच इंद्रिय, तीन बल (मनोबल, वचनबल और कायबल) आयु और श्वासोच्छ्वास ये दस द्रव्यप्राण हैं। २ असुहावना वा अहितकारी।

है। माया, मिथ्यात्व और निदान ये तीन शल्य हैं। मनमें और, वचनमें और, तथा कार्यमें और ही कुछ करै, इसको छल कपट अर्थात् मायाशल्य कहते हैं। तत्त्वार्थका अश्रद्धान सो मिथ्यात्व-शल्य है। आगामी कालमें विषयभोगोंकी बांछा करना सो निदानशल्य है। इन तीन शल्योंके रहते अहिंसादिक पांच व्रत धारण करनेपर भी जीव व्रती नहीं हो सकता है। वास्तवमें व्रतोंको धारणकर शल्यरहित होनेपर ही व्रती होता है ॥ १८ ॥

अगार्यऽनगारश्च ॥ १९ ॥

अर्थ-व्रती जीव दो प्रकारके होते हैं, एक (अगारी) गृहस्थी (च) और, दूसरे (अनगार) गृहत्यागी-साधु ॥ १९ ॥

अणुव्रतोऽगारी[१] ॥ २० ॥

अर्थ-(अणुव्रतः) स्थूल व्रतवाला अर्थात् जिसके एकदेश यथाशक्ति पांचों पापोंका त्याग हो, वह (अगारी) अणुव्रती गृहस्थ वा श्रावक कहलाता है। द्वींद्रियादिक त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग सो प्रथम अहिंसाणुव्रत है। स्नेह वैर मोह रागादिके वश असत्य कहनेका त्याग सो द्वितीय सत्याणुव्रत है। दूसरेके विना दिये हुए पदार्थोंके ग्रहणको जिससे कि उनको पीडा होती है और राजादि दंड देते हैं, चोरी वा चौर्य कहते हैं। उस चौर्यका छोड देना त्याग करना तृतीय अचौर्याणुव्रत है। अन्यकी ग्रहण की हुई अथवा नहीं ग्रहण हुई (अपरिगृहीत) स्त्रीसे रमनेका त्याग सो चतुर्थ

---

१ व्रतोंके दो भेद कहे थे-१ अणुव्रत और २ महाव्रत। जिनके अणुव्रत हैं सो अगारी हैं, ऐसा कहनेसे यह सिद्ध हुआ कि जिनके महाव्रत हैं वे अनगार अर्थात साधु मुनि हैं।

ब्रह्मचर्याणुव्रत है। धन धान्य दासी दास आदिका परिमाण करके शेषका त्याग करना सो परिग्रहपरिमाण पांचवां अणुव्रत है। इसप्रकार पांच अणुव्रतोंका धारी अणुव्रती वा श्रावक कहाता है॥ २०

अब गृहस्थके सात शीलव्रतीको बताते हैं:—

दिग्देशानर्थदंडविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरि-भोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसंपन्नश्च ॥ २१ ॥

अर्थ - दिग्विरति, देशविरति और अनर्थदंडविरति ये तीन गुणव्रत तथा सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोगपरिमाण और अतिथि-संविभाग ये चार शिक्षाव्रत हैं। ये सात व्रत भी गृहस्थ व्रतीको धारण करने चाहिये। अर्थात् पांच अणुव्रत और सात शीलव्रतों-सहित बारह व्रतका धारी पूर्ण व्रती श्रावक (व्रतप्रतिमाका धारी) कहाता है। लोभ आरंभादिके त्यागके अभिप्रायसे पूर्वादि दिशा-ओंमें किसी नदी, ग्राम, नगर, पर्वत आदि तक गमनागमनका स्थान रख, उससे आगे जानेका यावज्जीव त्याग करना सो दिग्व्रत है। यावज्जीव किये हुये दिग्व्रतमेंसे और भी संकोचकर किसी ग्राम नगर, गृह, मुहल्ले आदि पर्यंतका गमनागमन रखकर उससे आगे मास, पक्ष, दिन दो दिन, चार दिन आदि कालकी मर्यादारूप गमना-गमनका त्याग करना देशव्रत है। विना प्रयोजन ही जिन कार्योंसे पापारम्भ हो, उन कार्योंका त्याग करना सो अनर्थदंडव्रत है। जिनमें व्यर्थ ही पापबंध होता है, ऐसे अनर्थदंड पांच प्रकारके हैं। १ पापोपदेश, २ हिंसादान, ३ अपध्यान, ४ दुःश्रुति और ५ प्रमादचर्या। तिर्यंच आदिकको क्लेश होनेका, वनस्पति छेदनेका, पृथिवी खोदने आदिका उपदेश देना पापोपदेश अनर्थदंड है।

हिंसाके उपकरण शस्त्र, फावडा, कुदाल, बेडी, सांकल, चाबुक, विष, आग्नेय शस्त्र (तोप बंदूक) आदि पदार्थोंका दान करना हिंसादान अनर्थदंड है। अन्य जीवोंके दोष ग्रहण करनेके भाव, अन्यका धन ग्रहण करनेकी इच्छा, अन्यकी स्त्रीके देखनेकी इच्छा, तथा अन्य मनुष्य तिर्यंचोंके कलह देखनेके भाव, अन्यकी स्त्री पुत्र धन आजीविका वगैरहके नष्ट होनेकी चाहना, परका अपमान अपवाद अवज्ञा चाहना इत्यादि निरंतर ध्यान रखना—चिंता करना सो अपध्यान अनर्थदंड है। राग, द्वेष, काम क्रोध, अभिमानके बढानेवाले, हिंसाके पोषण करनेवाले मिथ्यात्वको बढानेवाले, और भंडकथा तथा युद्धकथाके कहनेवाले वेद पुराण स्मृत्यादि ग्रन्थोंका श्रवण करना दुःश्रुति अनर्थदंड है। विना प्रयोजन ही जल बखेरना, अग्नि जलाना, वनस्पति छेदना, भूमि खोदना आदिको प्रमादचर्यानामा अनर्थदंड कहते हैं। इन पांच प्रकारके अनर्थदंडोंका त्याग करना अनर्थदंडविरति है। तीनों संध्याओंके समय समस्त पापयोग क्रियाओंसे रहित होकर सबसे राग द्वेष छोड साम्यभावको प्राप्त होकर शुद्ध आत्मस्वरूपमें लीन होना सामायिकव्रत है। प्रत्येक अष्टमी चतुर्दशीके दिन समस्त आरंभ छोडकर विषय कषाय और चार प्रकारके आहारोंको त्यागकर धर्मकथाको सुनता हुआ सोलह पहर (पहले दिनके दुपहरसे लगा, पारनेके दिन दो पहरतक) व्यतीत करै वह प्रोषधोपवास है। जो एक बार ही भोगे जाते हैं ऐसे तांबूल भोजन पान सुगंधि आदि पदार्थ उपभोग[१] हैं, और जो अनेक बार भोगे जाते हैं, ऐसे आभरण वस्त्र गृह वाहन शय्यादि

१ यहांपर उपभोगका अर्थ एकही बार भोगमें आनेवाली वस्तुओंका है।

पदार्थ परिभोग हैं। कुछ उपभोग परिभोगोंको रखकर बाकीका यम नियमरूप त्याग करना उपभोगपरिभोगपरिमाण है। और अतिथि पुरुषोंको अर्थात् जो मोक्षके अर्थ उद्यमी संयमी और अंतरंग बहिरंगमें शुद्ध होते हैं ऐसे व्रती पुरुषोंको शुद्ध मनसे आहार औषधि उपकरण और वसतिकाका दान करना अतिथिसंविभाग है। इसप्रकार तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये सात शीलव्रत भी गृहस्थको धारण करने योग्य हैं। इस सूत्रमें जो 'च' शब्द है, वह आगेके सूत्रमें कहे हुए सल्लेखनारूप गृहस्थधर्मके शामिल करनेकेलिए है ॥२१॥

मारणांतिकीं सल्लेखनां जोषिता ॥ २२ ॥

अर्थ—गृहस्थ (मारणांतिकीं) मृत्युके समय होनेवाली (सल्लेखनां) सल्लेखनाको (जोषिता) सेवन करै। मृत्युके समय काय और कषायको क्रमसे कृश करते करते धर्मध्यानमें सावधान रहकर प्राणोंके त्यागनेको सल्लेखना कहते हैं। इसको संन्यासमरण व उत्तममरण भी कहते हैं। गृहस्थको यह परमोपकारी शुभगतिका कारणरूप सर्वोत्तम व्रत भी प्रीतिपूर्वक सेवन करना चाहिये ॥२२

आगे संपूर्ण व्रतोंके अतीचार कहेंगे; जिनमेंसे पहले सम्यक्त्वके पांच अतीचार कहते हैं;—

शंकाकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः [२] ॥ २३ ॥

अर्थ—(शंकाकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः)

---

१. यावज्जीवन त्याग करनेको यम कहते हैं और किसी नियत समय तकके लिए त्याग करनेको नियम कहते हैं। २. व्रतको सर्वथा छोड देना सो अनाचार है और व्रतमें दोष लगाना अतीचार है।

शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव ये पांच (सम्यग्दृष्टेः) सम्यग्दर्शनके (अतीचाराः) अतीचार हैं। अरहंत भगवानके परमागममें पदार्थोंका जो स्वरूप कहा है, उसमें संशय करना अथवा अपने आत्माको ज्ञाता द्रष्टा अखंड अविनाशी और पुद्गलसे भिन्न जान करके भी सात[1] प्रकारके भय करना शंका अतीचार है। इस लोक और परलोकसंबंधी भोगोंकी वांछा रखना कांक्षा अतीचार है। दुःखी दरिद्री रोगी इत्यादिक क्लेशसंपन्न जीवोंको देखकर ग्लानि करना वा असमीचीन पदार्थोंको देखकर ग्लानि करना विचिकित्सा अतीचार है। मिथ्यादृष्टीके ज्ञानचारित्रादि गुणोंको मनसे प्रगट करना अन्यदृष्टिप्रशंसा अतीचार है। और मिथ्यादृष्टीके मौजूद गैर मौजूद गुणोंका वचनसे प्रगट करना अन्यदृष्टिसंस्तव अतीचार है। सम्यग्दृष्टिको ये पांच अतिचार भी छोडने चाहिए ॥ २३ ॥

व्रतशीलेषु पंच पंच यथाक्रमम् ॥ २४ ॥

अर्थ-इन्ही (व्रतशीलेषु) पांच व्रत और सात शीलोंमें भी (यथाक्रमम्) क्रमसे (पंच पंच) पांच पांच अतीचार हैं, उन्हें आगेके सूत्रोंमें कहते हैं ॥ २४ ॥

बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ॥ २५ ॥

अर्थ—बन्ध, वध, छेद, अतिभारारोपण और अन्नपाननिरोध ये पांच अहिंसाणुव्रतके अतीचार हैं। मनुष्यको वा पशु को बांधकर अटका रखना बन्धातीचार है। लकडी चाबुक आदिसे पीटना

---

१ इहलोकभय, परलोकभय, मरणभय, वेदनाभय, अरक्षाभय, और अकस्माद्भय ये सात प्रकारके भय हैं।

बधातीचार है। कान नासिका आदि छेदकर दुःखी करना छेदातीचार है। बहुत (शक्तिसे अधिक) भार लादना अतिभारारोपणातीचार है। खानपानादि रोककर भूका प्यासा रखना अन्नपाननिरोधातीचार है॥ २५ ॥

मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहार-
साकारमन्त्रभेदाः ॥ २६ ॥

अर्थ—मिथ्या उपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार और साकारमन्त्रभेद ये पांच सत्याणुव्रतके अतीचार हैं। परमागमसे विरुद्ध औरका और झूठा उपदेश देना मिथ्योपदेश अतीचार है। स्त्रीपुरुषादिकी गुप्त वार्त्ताओं वा गुप्त आचरणोंको प्रगट करना रहोभ्याख्यान अतीचार है। झूठे लेख स्टांप वगैरह लिखना कूटलेख क्रिया अतीचार है। कोई मनुष्य रुपया गहना आदि धरोहर रख जावे और भूलसे थोड़ा मांग बैठे, तो उसको "हां तुम्हारा जितना हो उतना ले जाओ" ऐसा कहकर जितना उसने मांगा हो उतना ही देना, पूरा नहीं देना न्यासापहार अतीचार है। किसीके मुह आदिकी चेष्टाओंसे उसके मनका गुप्त अभिप्राय जानकर प्रगट कर देना साकारमन्त्रभेद अतीचार है॥ २६ ॥

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीना-
धिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ॥ २७ ॥

अर्थ—स्तेनप्रयोग, तदाहृतादान, विरुद्धराज्यातिक्रम, हीनाधिक मानोन्मान और प्रतिरूपक व्यवहार ये पांच अचौर्याणुव्रतके अतीचार हैं। चोरी करनेका उपाय बताना स्तेनप्रयोग नामका अतीचार है। चोरीकी वस्तु मोल वा बिना मोल लेना तदाहृतादान वा

चौरार्थादान नामा अतीचार है। राजाकी आज्ञाका लोप करके विरुद्ध चलना विरुद्धराज्यातिक्रम नामका अतीचार है। लेने देनेके बांट, तराजू, गज, पायली[1] वगैरह हीन अधिक रखना हीनाधिकमानोन्मान नामका अतिचार है। अधिक मूल्यकी वस्तुमें थोडे मूल्यकी वस्तु मिलाकर अधिक मूल्यसे बेचना अथवा घीमें चरबी दूधमें पानी या आरारूट वगैरह मिलाकर और असली बताकर बेचना प्रतिरूपकव्यवहार नामका अतीचार है ॥ २७ ॥

परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः ॥ २८ ॥

अर्थ—परविवाहकरण, परिगृहीतेत्वरिकागमन, अपरिगृहीतेत्वरिकागमन, अनंगक्रीडा, कामतीव्राभिनिवेश ये पांच ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतीचार हैं। दूसरोंके लडकोंका विवाह करना या कहकर करा देना परविवाहकरण नामका अतीचार है। दूसरेकी विवाही हुई व्यभिचारिणी स्त्रीके यहां जाना आना वा उसके साथ देन लेन वचनालापादि परिगृहीतेत्वरिकागमन नामका अतीचार है। जो वेश्यादि व्यभिचारिणी स्त्रियां अपरिगृहीत हैं अर्थात् जिनका कोई स्वामी नहीं है, उनसे देन लेन वार्तालापादि रखना अपरिगृहीतेत्वरिकागमन नामका अतीचार है। कामसेवनके अंगोंको छोडकर अन्य अंगोंसे कामक्रीडा करना अनंगक्रीडा नामका अतीचार है। अपनी स्त्रीमें कामसेवनकी तीव्र अभिलाषा रखना वा कामक्रीडामें अतिशय मग्न रहना कामतीव्राभिनिवेश नामका अतीचार है ॥ २८

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः ॥ २९ ॥

---

१ पायली एक नापको कहते हैं।

अर्थ—क्षेत्रवास्तु, हिरण्यसुवर्ण, धनधान्य, दासीदास और कुप्य इन पांचोंके परिमाणको उल्लंघन करना परिग्रहपरिमाण व्रतके पांच अतीचार हैं। धान्यादि उत्पन्न होनेके स्थानका नाम क्षेत्र है। रहनेके घर मकान वगैरह वास्तु हैं। रुपया चांदी वगैरहको हिरण्य कहते हैं। सोना व सोनेके गहनोंको सुवर्ण कहते हैं। गौ बैल भैंस आदिको धन कहते हैं। शाल गेहू आदि धान्य हैं। शरीर व घरकी सेवा करनेवाली स्त्रियां तथा पुरुष दासीदास हैं। वस्त्र, थाली, लोटा, कपास, चंदन आदि कुप्य है। इन सबके परिमाण घटा-बढा लेनेसे अतीचार होते हैं। २९॥

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यंतराधानानि ॥ ३० ॥

अर्थ—ऊर्ध्वातिक्रम, अधोतिक्रम, तिर्यगतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यंतराधान ये पांच दिग्व्रतके अतीचार हैं। परिमाणसे अधिक ऊंचाईके वृक्ष पर्वतादिकोंपर चढना ऊर्ध्वातिक्रम है। परिमाणसे अधिक निचाईके कूप बावडीमें नीचे उतरना अधोतिक्रम है। बिल, पूर्वादिक दिशाओंमें वा सुरंग आदिमें टेढा जाना तिर्यक्‌अतिक्रम है। परिमाण की हुई दिशाओंके क्षेत्रसे अधिक क्षेत्र बढा लेना क्षेत्रवृद्धि है। दिशाओंकी की हुई मर्यादाको भूल जाना स्मृत्यंतराधान है ॥ ३० ॥

आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ॥ ३१ ॥

अर्थ—आनयन, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात और पुद्गलक्षेप ये पांच देशविरति व्रतके अतीचार हैं। मर्यादासे बाहरकी वस्तुओंका मगाना वा किसीको बुलाना आनयन अतीचार है। मर्यादासे बाहरके क्षेत्रमें आप न जाकर सेवकादिको भेजना प्रेष्य-

प्रयोग अतीचार है। मर्यादासे बाहरके क्षेत्रमें रहे हुए मनुष्यको खांसी वा खँखारने आदिका शब्द करके अपना अभिप्राय समझा देना शब्दानुपात अतीचार है। मर्यादासे बाहरके क्षेत्रमें रहे हुए मनुष्यको अपना रूप दिखाकर, हाथके इशारोंसे समझाकर काम करा लेना रूपानुपात अतीचार है। और मर्यादासे बाहर कंकर, पत्थर आदि फेंककर इशारा करना पुद्गलक्षेप अतीचार है ॥ ३१

कंदर्पकौत्कुच्यमौखर्याऽसमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि ॥ ३२ ॥

अर्थ—कंदर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण और उपभोगपरिभोगानर्थक्य ये पांच अनर्थदंडव्रतके अतीचार हैं। रागभावकी उत्कटतासे हास्यमिश्रित भंडवचन बोलना कंदर्प अतीचार है। रागोदयकी तीव्रतासे हास्य और अशिष्ट भण्ड वचन बोलना और कायसे भी निंदनीय क्रिया करना कौत्कुच्य अतीचार है। धीटतासे बहुतसा निरर्थक प्रलाप करना मौखर्य अतीचार है। प्रयोजनको विना विचारे अधिकतासे प्रवर्त्तन करना असमीक्ष्याधिकरण अतीचार है। भोगउपभोगके जितने पदार्थोंसे अपना काम चल जाता है उनसे अधिकका संग्रह करना उपभोगपरिभोगानर्थक्य अतीचार है ॥ ३२ ॥

योगदुःप्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥ ३३ ॥

अर्थ—तीन प्रकारके योगदुःप्रणिधान, अनादर और स्मृत्यनुपस्थान ये पांच सामायिकव्रतके अतीचार हैं। मनको अन्यथा चलायमान करना मनोदुःप्रणिधान नामका अतीचार है। वचनको चलायमान करना वाग्दुःप्रणिधान नामका अतीचार है।

कायको चलायमान करना कायदुःप्रणिधान नामका अतीचार है। उत्साहरहित अनादरसे सामायिक करना अनादर नामका अतीचार है। सामायिकमें एकाग्रताके विना चित्तकी व्यग्रतासे पाठ या क्रियाको भूल जाना स्मृत्यनुपस्थान नामका अतीचार है ॥३३॥

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरो-
पक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥ ३४ ॥

अर्थ—अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित भूमिपर मलमोचन आदि करना तथा उपकरण ग्रहण करना, तथा संथारा आदि बिछाना, व्रतका अनादर करना और स्मृत्यनुपस्थान अर्थात् भूल जाना ये पांच प्रोषधोपवासके अतीचार हैं। इस भूमिमें जीव हैं कि नहीं हैं, इसप्रकार नेत्रोंसे देखना प्रत्यवेक्षण है और कोमल उपकरणसे भूमिका शोधना बुहारना प्रमार्जन है। सो नेत्रोंसे देखे विना व कोमल पिच्छिकादिसे शोधन किये विना भूमिपर मल मूत्रादि डाल देना अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग नामका अतीचार है। इसीप्रकार देखे शोधे विना अरहंत आचार्यादिकोंके पूजनके गंधमाल्य धूपादि उपकरणोंको ग्रहण करना वा वस्त्रपात्रादिकोंको देखे सोधे विना ही घसीटकर उठाना अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान नामका अतीचार है। विना देखी विना शोधी भूमिपर शयनासनकेलिए वस्त्रादिक बिछाना अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितसंस्तरोपक्रमण नामका अतीचार है। क्षुधातृषाकी बाधासे आवश्यकीय धर्मक्रियाओंमें अनादरसे प्रवर्त्तना अनादर नामका अतीचार है। प्रोपधोपवासके दिन करनेयोग्य आवश्यकीय धर्मक्रियाओंको भूल जाना स्मृत्यनुपस्थान नामका अतीचार है। ॥ ३४ ॥

सचित्तसंबंधसंमिश्राभिषवदुःपक्काहाराः ॥ ३५ ॥

अर्थ—सचित्त, सचित्तसंबंध सचित्तसंमिश्र, अभिषव और दुःपक्क ऐसे पांच प्रकारके पदार्थोंका आहार करना उपभोगपरिभोग-परिमाणव्रतके पांच अतीचार हैं। जीवसहित पुष्पफलादिकोंका आहार करना सचित्ताहार नामका पहला अतीचार है। सचित्त वस्तुसे स्पर्शे हुए पदार्थोंका आहार करना सचित्तसंबंधाहार नामका दूसरा अतीचार है। सचित्त पदार्थसे मिले हुए पदार्थोंका आहार सचित्त-संमिश्राहार नामका तीसरा अतीचार है। पुष्टिकर पदार्थोंका आहार करना अभिषव नामका चौथा अतीचार है। और भले प्रकार नहीं पके हुए पदार्थोंका आहार करना तथा जो पदार्थ कष्टसे—देरसे परिपक्क (हजम) हों, ऐसे पदार्थोंका भोजन करना दुःपक्वाहार नामका पांचवां अतीचार है ॥ ३५ ॥

सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ॥३६॥

अर्थ—सचित्तनिक्षेप, सचित्तापिधान, परव्यपदेश, मात्सर्य और कालातिक्रम ये पांच अतिथिसंविभागके अतीचार हैं। सचित्त (जीव-सहित) हरे कमलपत्रादिकोंमें रखकर आहारदान करना सचित्त-निक्षेप नामका अतीचार है। सचित्त कमलपत्रादिकसे ढके हुए आहारादिका दान देना सचित्तापिधान नामका अतीचार है। अन्यकी वस्तुका दान करना परव्यपदेश नामका अतीचार है। अनादरसे दान देना वा अन्य दातारसे ईर्षाभाव करके दान देना मात्सर्य नामा अतीचार हैं। दान देनेके कालको उल्लंघन करके अकालमें भोजन देना कालातिक्रम नामका अतीचार है ॥३६॥

[illegible]धनिदानानि ॥ ३७ ॥

अर्थ—जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध और निदान ये पांच सल्लेखना व्रतके अतीचार हैं। सल्लेखना धारण करके जीनेकी आशंसा (इच्छा) करना जीविताशंसा नामका अतीचार है। रोगादिकके उपद्रवोंसे घबडाकर मरनेकी वांछा करना मरणाशंसा नामका अतीचार है। मित्रोंका स्मरण करना मित्रानुराग नामका अतीचार है। पूर्वकालमें भोगे हुए भोगोंको याद करना सुखानुबन्ध नामका अतीचार है। अगले जन्ममें विषयादि सुखोंके प्राप्त होनेकी वांछा करना निदान नामका अतीचार है॥३७

अब दानका लक्षण कहते हैं,—

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—(अनुग्रहार्थं) अपने और परके उपकारकेलिये (स्वस्य धनादिकका अपने (अतिसर्गः) त्याग करना (दानम्) दान है। दानसे जो पुण्यबन्ध होता है, वह तो अपना उपकार है। और उससे पात्रके जो सम्यग्ज्ञानादि गुणोंकी वृद्धि होती है, वह परका उपकार है। ऐसे स्वपर-उपकारी आहारादिके देनेको दान कहते हैं ॥ ३८ ॥

विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात् तद्विशेषः ॥ ३९ ॥

अर्थ—(विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्) विधिविशेष, द्रव्यविशेष, दातारविशेष और पात्रविशेषके कारण (तद्विशेष) उस दानमें भी विशेषता होती है। अर्थात् इन चार कारणोंसे दानके उत्तम मध्यम जघन्य आदि भेद होते हैं और उनके फल भी उत्तम मध्यम जघन्य आदि होते हैं ॥ ३९ ॥

इति श्रीमदुमास्वामिविरचिते तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे

सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अष्टम अध्याय।

मिथ्यादर्शनाऽविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ॥ १ ॥

अर्थ–(मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाः) मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पांच (बन्धहेतवः) बंधके हेतु (कारण) हैं। अतत्त्वका श्रद्धान सो मिथ्यात्व वा मिथ्यादर्शन है। इसके दो भेद हैं। एक गृहीतमिथ्यात्व और, एक अगृहीत-मिथ्यात्व। परके उपदेश वा कुशास्त्रोंके सुननेसे जो अतत्त्वश्रद्धान हो वह गृहीतमिथ्यात्व है। परके उपदेशादिके विना ही पूर्वोपार्जित मिथ्यात्वकर्मके उदयसे जो अतत्त्वश्रद्धान हो, वह अगृहीतमिथ्यात्व वा निसर्गजमिथ्यात्व है। गृहीतमिथ्यात्वके एकान्त मिथ्यात्व, विपरीतमिथ्यात्व, संशयमिथ्यात्व, विनयमिथ्यात्व और अज्ञान मिथ्यात्व इस प्रकार पांच भेद हैं। वस्तुमें वा पदार्थमें जो अनेक धर्म होते हैं उन सवको गौणकरके एक ही धर्मको मानकर केवल उसीका श्रद्धान करना एकांतमिथ्यात्व है। सग्रंथको निर्ग्रंथ मानना, केवलीको कवलाहार करनेवाला मानना, स्त्रीको मोक्ष मानना, इसप्रकार उलटे श्रद्धानको विपरीतमिथ्यात्व कहते हैं। 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप मोक्षमार्ग है कि नहीं,' इस प्रकारके संदेहरूप श्रद्धानको संशय मिथ्यात्व कहते हैं। समस्त प्रकारके देवों कुदेवों और समस्त प्रकारके दर्शनोंको एक ही मानना तथा सवकी भक्ति करना विनय मिथ्यात्व है। और हिताहितकी परीक्षारहित श्रद्धान करना अज्ञानमिथ्यात्व है। षट्कायके जीवोंकी हिंसाका त्याग नहीं करना और पांच इंद्रियोंको तथा मनको वश नहीं करना, सो बारह अविरति है। भावशुद्धि, कायशुद्धि, विनयशुद्धि, ईर्यापथशुद्धि

भैक्ष्यशुद्धि, पानाशनशुद्धि, प्रतिष्ठापनशुद्धि और वाक्यशुद्धि, इन आठ शुद्धियोंमें तथा दशलक्षणधर्ममें उत्साहरहितपरिणाम हो मंदोद्यमी होनेको **प्रमाद** कहते हैं। स्त्रीकथा राजकथा भोजनकथा और देशकथा ये चार विकथाएं, क्रोध मान माया और लोभ ये चार कषाय, पांच इंद्रियें, निद्रा और राग इस प्रकार प्रमादके पंद्रह भेद हैं। कषायके क्रोध मान माया लोभ रूप सोलह भेद और हास्य रति अरति आदि नोकषायोंके नौ भेद इस प्रकार सब मिलाकर पच्चीस कषाय हैं। चार मनोयोग, चार वाग्योग और सात काययोग, ऐसे पंद्रह योग हैं। इन सबसे अर्थात् मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगोंसे शुभाशुभ कर्मोंका बंध होता है॥ १ ॥

अब बंधका स्वरूप कहते हैं—

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बंधः ॥२॥

अर्थ–(जीव) जीव (सकषायत्वात्) कषायसहित होनेसे जो (कर्मणः) कर्मोंके (योग्यान्) योग्य (पुद्गलान्) पुद्गलोंको (आदत्ते) ग्रहण करता है (सः) वह (बंधः) बंध है। समस्त लोकमें पुद्गलोंके परमाणु भरे हैं। उनमें कार्माणवर्गणाके परमाणु भी हर जगह मौजूद हैं। यह आत्मा जब मनवचनकायरूप योगोंके द्वारा सकंप वा कषायसहित होता है, तब वे कार्माणवर्गणाएं कर्मरूप होकर आत्मासे संबंध कर लेती हैं। इसीको कर्मबंध कहते हैं। उस समय कषाय यदि मंद होते हैं, तो कर्मोंका स्थितिबंध व अनुभागबंध मंद होता है; और तीव्र होते हैं, तो तीव्र होता है ॥२॥

प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधयः ॥ ३ ॥

अर्थ-(प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशाः) प्रकृतिबंध, स्थितिबंध

अनुभागबंध और प्रदेशबंध ये (तद्विधयः) उस बंधके चार प्रकार हैं । प्रकृति नाम स्वभावका है, जैसे नीमका स्वभाव कटुक है और गुडका मीठा है । कर्मोंमें आठप्रकारके स्वभावोंका वा रसोंका पडना प्रकृतिबंध है । ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुः, नाम, गोत्र और अंतराय ये आठ कर्म हैं । इनमेंसे ज्ञानावरणकी प्रकृति (स्वभाव) आत्माके ज्ञानको आच्छादन करनेकी है । दर्शनावरणकी प्रकृति आत्माके दर्शन अर्थात् चैतन्यके सामान्यावलोकन रूप अंशको आच्छादन करनेकी है । वेदनीयकी प्रकृति आत्मामें सुखदुःख उत्पन्न करनेकी है । मोहनीय कर्ममें मद्य, धतूरे आदिके समान मोह उत्पन्न करनेकी प्रकृति है । आयुकर्मका स्वभाव आत्माको किसी भी शरीरमें नियमित समय तक अटकानेका है । नामकर्मका स्वभाव आत्माकेलिये नानाप्रकारके शरीर अंगोपांगादि रचनेका है । गोत्रकर्म ऊंच नीच कुलमें उत्पन्न करनेकी प्रकृति रखता है । और अन्तरायकर्मकी प्रकृति आत्माके वीर्य, दान, लाभ, भोग और उपभोगोंमें विघ्न डालनेको है । कर्ममें इस प्रकारके स्वभाव होनेको प्रकृति बंध कहते हैं । उक्त आठप्रकारकी कर्मप्रकृतियां जो आत्माके प्रदेशोंसे बंधरूप हुई हैं, वे जितने कालतक रहेंगी अर्थात् जितने समयतक अपने स्वभावको नहीं छोडेंगी, उतने समयकी मर्यादा जिससे पडती है, उसे स्थितिबन्ध कहते हैं । और जिस प्रकार बकरी, गौ, भैंसके दूधमें थोडा और अधिक रस होता हैं, उसी प्रकार कर्मोंमें तीव्र, मध्य और मंदरूप रस [फल] देनेकी शक्ति होनेको **अनुभागबन्ध** वा **अनुभवबन्ध** कहते हैं । उक्त आठप्रकारके कर्मोंका आत्माके प्रदेशोंसे एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध होना **प्रदेशबंध**

है। इस प्रकार बन्धके चार प्रकार हैं ॥ ३ ॥

अब प्रकृतिबन्धके मूल आठ भेद कहते हैं;—

आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रांऽतरायाः ॥ ४ ॥

अर्थ—(आद्यः) आदिका बंध अर्थात् प्रकृतिबंध (ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रांतरायाः) ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय, इस तरह आठप्रकारका है अर्थात् आठप्रकारके स्वभाववाला है। इनमेंसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार घातिकर्म हैं, और शेष चार अघातिकर्म हैं ॥ ४ ॥

अब इन मूलप्रकृतियोंके उत्तरभेद कहते हैं;—

पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा यथाक्रमम् ॥ ५ ॥

अर्थ—आठ प्रकारकी जो मूलप्रकृतियां हैं, उनके (यथाक्रमम्) क्रमसे (पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदाः) पांच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, ब्यालीस, दो और पांच भेद हैं। **भावार्थ**—ज्ञानावरणके पांच, दर्शनावरणके नौ, वेदनीयके दो, मोहनीयके अट्ठाईस, आयु कर्मके चार, नामकर्मके ब्यालीस, गोत्रकर्मके दो और अंतरायकर्मके पांच भेद हैं ॥ ५ ॥

अब ज्ञानावरणके पांच भेद कहते हैं;—

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम् ॥ ६ ॥

अर्थ—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण ऐसे पांच भेद ज्ञानावरणप्रकृतिके

हैं। आवरण नाम परदेका वा ढकनेका अथवा आड़का है। किसी मूर्तिपर कपडेका परदा डाल देनेसे जिस तरह उसका आकार नहीं दीखता है, उसी प्रकारसे आत्मामें जो ज्ञानशक्ति है वह ज्ञानावरण कर्मके परदेसे ढकी रहनेके कारण प्रकट नहीं हो सकती है। यद्यपि मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरणके किंचित् क्षयोपशमसे थोडा बहुत ज्ञान सब जीवोंमें रहता है परन्तु बाकीके सब ज्ञानोंको उक्त पांचों प्रकारके कर्म न्यूनाधिक रूपमें ढके रखते हैं। मतिज्ञानको ढके, उसको **मतिज्ञानावरण** कहते हैं। श्रुतज्ञानको ढके, उसे **श्रुतज्ञानावरण** कहते हैं। अवधिज्ञानको आवरण करे, उसे **अवधिज्ञानावरण** कहते हैं। मनःपर्ययज्ञानको आच्छादन करे, उसे **मनःपर्ययज्ञानावरण** कहते हैं। और केवलज्ञानको आच्छादन करे उसे **केवलज्ञानावरण** कर्म कहते हैं ॥ ६ ॥

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्रा—
प्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयश्च ॥ ७ ॥

अर्थ–(चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां) चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण ये चार (च) और (निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयः) निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि ये पांच निद्रायें मिलकर नौ प्रकृति दर्शनावरण कर्मकी हैं। जिसके उदयसे आत्मा चक्षुरिंद्रियरहित एकेंद्रिय वा विकलेंद्रिय हो अथवा चक्षुरिंद्रियसहित पंचेंद्रिय हो, तो भी उसके नेत्रोंमें देखनेका सामर्थ्य न हो अर्थात् अन्धा, काना वा न्यूनदृष्टि हो, उसे **चक्षुर्दर्शनावरणप्रकृति** कहते हैं। जिसके उदयसे चक्षुके अतिरिक्त अन्य इंद्रियोंसे दर्शन

(सामान्यज्ञान) न हो, उसे अचक्षुदर्शनावरणप्रकृति कहते हैं। अवधिदर्शनसे जो सामान्य अवलोकन होता है, उसको आच्छादन करनेवाली अवधिदर्शनावरणप्रकृति है। केवलदर्शनावरण जो समस्त दर्शन नहीं होने देती है उसे केवलदर्शनावरणप्रकृति कहते हैं। मद खेद ग्लानि दूर करनेकेलिये जो नींद ली जाती है सो निद्रादर्शनावरणप्रकृति है। निद्रापर निद्रा आना निद्रानिद्रा-दर्शनावरणप्रकृति है। निद्रानिद्रादर्शनावरणके उदयसे ऐसी निद्रा आती है कि जीव नेत्रोंको उघाड़ नहीं सकता है। और जिसके उदयसे शोक खेद मदादिकके कारण बैठे बैठे ही शरीरमें विकार उत्पन्न होकर पांचों इंद्रियोंके व्यापारका अभाव हो जाय, उसे प्रचलादर्श-नावरणप्रकृति कहते हैं। इसके उदयसे जीव नेत्रोंको कुछ उघाड़े हुए ही सो जाता है, अर्थात् सोता भी कुछ जानता है, बैठा बैठा ही घूमने लग जाता है, नेत्र गात्र चलाया करता है और देखते हुए भी कुछ नहीं देखता है। जिसके उदयसे मुखसे लाल (लार) वहने लग जाय, अंग उपांग चलायमान होते रहैं, सुई आदि चुभा-नेसे भी चेत न होवे, उसे प्रचलाप्रचलादर्शनावरणप्रकृति कहते हैं। जिस निद्राके आनेपर मनुष्य चैतन्यसा होकर अनेक रौद्रकर्म कर लेता है और फिर बेहोश हो जाता है तथा निद्रा छूटनेपर उसे मालूम नहीं रहता है कि मैंने क्या क्या काम कर डाले, उसे स्त्या-नगृद्धिदर्शनावरणप्रकृति कहते हैं। इस प्रकार दर्शनावरणप्रकृतिके नौ भेद हैं ॥ ७ ॥

सदसद्वेद्ये ॥ ८ ॥

अर्थ–(सदसद्वेद्ये) वेदनीयकर्म सत् और असत् भेदसे

दोप्रकारका है। अर्थात्–एक सातावेदनीय दूसरी असातावेदनीय जिसके उदयसे शारीरिक मानसिक अनेक प्रकार सुखरूप सामग्रीकी प्राप्ति हो, उसे सातावेदनीय कहते हैं और जिसके उदयसे दुःखदायक सामग्रीकी प्राप्ति हो, उसे असातावेदनीय कहते हैं ॥ ८ ॥

अब मोहनीय कर्मकी अट्ठाईस प्रकृतियोंको कहते हैं;—

दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्यकषायकषायौ हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदा अनंतानुबंध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः ॥९

अर्थ–(दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्याः) दर्शनमोहनीय, चारित्र मोहनीय, अकषायवेदनीय और कषायवेदनीय ये चार मोहनीयकर्म क्रमसे (त्रिद्विनवषोडशभेदाः) तीन, दो, नौ और सोलह प्रकारके हैं। जिनमेंसे दर्शनमोहनीय (सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयानि) सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व ऐसे तीनप्रकारका है। चारित्रमोहनीय (अकषायकषायौ) अकषायवेदनीय और कषायवेदनीय ऐसे दो प्रकारका है। फिर इनमेंसे अकषायवेदनीय तो (हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्साः स्त्रीपुंनपुंसकवेदाः) हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ऐसे नौ प्रकारका है। (च) और कषायवेदनीय (अनंतानुबंध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनविकल्पाः) अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलनके भेदोंसहित (क्रोधमानमायालोभाः) क्रोध मान माया और लोभ रूप

सोलह प्रकारका होता है।

भावार्थ–मोहनीयकर्मके दो भेद हैं–दर्शनमोहनीय और चारित्र-मोहनीय। इनमेंसे दर्शनमोहनीयके सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व अर्थात् मिश्रमोहनीय ये तीन, और चारित्रमोहनीयके अकषायवेदनीय और कषायवेदनीय ये दो भेद हैं। अकषायवेदनीय–हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ऐसे नौ प्रकारका है। और कषायवेदनीय–१ अनंतानुबंधीक्रोध, २ अप्रत्याख्यानक्रोध, ३ प्रत्याख्यानक्रोध, ४ संज्वलनक्रोध, ५ अनंतानुबंधीमान, ६ अप्रत्याख्यानमान, ७ प्रत्याख्यानमान ८ संज्वलनमान, ९ अनंतानुबंधीमाया, १० अप्रत्याख्यानमाया, ११ प्रत्याख्यानमाया, १२ संज्वलनमाया, १३ अनंतानुबंधीलोभ, १४ अप्रत्याख्यानलोभ, १५ प्रत्याख्यानलोभ और १६ संज्वलन लोभ ऐसे सोलहप्रकारका है।

जिसके उदयसे सर्वज्ञभाषित मार्गसे पराङ्मुखता और तत्त्वार्थ-श्रद्धानमें निरुत्सुकता वा निरुद्यमता तथा हिताहितकी परीक्षामें असमर्थता होती है, वह मिथ्यात्वप्रकृति है। जिस प्रकृतिके उदयसे सम्यक्त्वका मूल नाश तो न हो फिर भी चलमलिनादि दोष पैदा हो जावें, वह सम्यक्त्वप्रकृति है। और जिसके उदयसे तत्त्वोंके श्रद्धानरूप और अश्रद्धानरूप दोनों प्रकारके भाव दही गुडके मिले हुए स्वादके समान मिले हुए होते हैं, उसे सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति

---

१ किंचित्कषायको ईषत्कषाय वा नोकषाय वा अकषायवेदनीय कहा है। जो आत्माको कषे क्लेशित करे, उसे कषाय कहते हैं। यहां 'अकषाय' शब्दका अर्थ कषायरहित नहीं है, किंतु किंचित् कषाय है।

कहते हैं। ये तीनों ही प्रकृतियां आत्माके सम्यक्त्वभावको घात करनेवाली हैं।

जिसके उदयसे हसी आवे, उसे हास्यप्रकृति कहते हैं। जिसके उदयसे विषयोंमें उत्सुकता वा आसक्तता हो, सो रति है। रतिसे उलटी अरति है। जिसके उदयसे शोक वा चिंता हो, सो शोक है। जिसके उदयसे उद्वेग हो, सो भय है। जिसके उदयसे अपने दोषोंका आच्छादन करना और अन्यके कुल शीलादिकमें दोष प्रगट करना हो; अथवा अवज्ञा, तिरस्कार वा ग्लानिरूप भाव हों; सो जुगुप्सा है। जिसके उदयसे पुरुषसे रमनेकी इच्छा हो; सो स्त्रीवेद है; स्त्रीसे रमनेकी इच्छा हो, सो पुरुषवेद है। और स्त्रीपुरुष दोनोंसे रमनेके भाव हों, सो नपुंसकवेद है।

कषायवेदनीयके सोलह भेद हैं। जिनमेंसे क्रोध, मान, माया और लोभ चार मुख्य हैं। जिसके उदयसे अपने और परके घात करनेके परिणाम हों तथा परके उपकार करनेके अभावरूप भाव वा क्रूरभाव हों, सो क्रोध है। जिससे जाति, कुल, बल, ऐश्वर्य, विद्या, रूप, तप और ज्ञानादिकके गर्वसे उद्धतरूप तथा अन्यसे नम्रीभूत न होनेरूप परिणाम, सो मान है। अन्यको ठगनेकी इच्छासे जो कुटिलता की जाती है, सो माया है और अपने उपकारक द्रव्योंमें जो अभिलाषा होती है, सो लोभ है। इन चारोंमेंसे प्रत्येकके शक्तिकी अपेक्षासे तीव्रतर, तीव्र, मन्द और मन्तर ऐसे चार भेद

---

१ स्त्री, पुरुष और नपुंसकोंके शरीरमें गुह्य अंगोंकी रचना तो नामकर्मके उदयसे होती है और रमनेकी इच्छा वेदकर्मके उदयसे होती है।

हैं । अनंत संसारका कारण जो मिथ्यात्व है उसके साथ रहनेवाले परिणामोंके कारण अनंतानुबंधी क्रोधमानमायालोभ कहाते हैं। अप्रत्याख्यानको अर्थात् थोडे त्यागको जो आवरण करैं-रोकैं, उन प्रकृतियोंको अप्रत्याख्यान क्रोधमानमायालोभ कहते हैं। और प्रत्याख्यान अर्थात् सर्व त्यागको जो आवरण करैं अर्थात् महाव्रत नहीं होने देवें ऐसी प्रकृतियोंको प्रत्याख्यान क्रोधमान-मायालोभ कहते हैं। और जो संयमके साथ ही प्रकाशमान रहैं अथवा जिनके होनेपर भी संयम प्रकाशमान हुआ करै, बाधा नहीं करैं, ऐसी क्रोध मान माया लोभ रूप प्रकृतियोंको संज्वलन क्रोध-मानमायालोभ कहते हैं। इस प्रकार प्रत्येकके चार चार भेद होनेसे कषायवेदनीयकी सोलह प्रकृतिं हो गईं। उनमें नौ अकषाय-वेदनीयकी और तीन दर्शनमोहनीयकी मिलानेसे मोहनीय कर्मकी अट्ठाईस प्रकृति हुईं। दर्शनमोहकी तीन प्रकृति और अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, ये चार-इस तरह सात प्रकृति सम्य-क्त्वका घात करती हैं। इनके उदय रहते सम्यक्त्व नहीं होता है। अप्रत्याख्यानरूप क्रोध, मान, माया, लोभके उदय रहते श्रावकके व्रत नहीं होते हैं। प्रत्याख्यान चौकडीके उदय रहते महाव्रत नहीं होते हैं और संज्वलन चौकडीके उदयसे यथाख्यातचारित्र नहीं होता है ॥ ९ ॥

अब आयुकर्मके चार भेद बताते हैं;—

नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ॥ १० ॥

अर्थ—नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु इसतरह चार आयुकर्मकी प्रकृति हैं। जिसके सद्भावसे आत्मा नरकादिक गतियोंमें

जीवे और अभावसे मरणको प्राप्त हो जाय, उसको आयुकर्म कहते हैं ॥ १० ॥

अब नामकर्मकी ब्यालीस प्रकृति कहते हैं;-

गतिजातिशरीरांगोपांगनिर्माणबंधनसंघातसंस्थान-
संहननस्पर्शरसगंधवर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघा-
तातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रस-
सुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशःकीर्तिसे-
तराणि तीर्थकरत्वं च ॥ ११ ॥

अर्थ-(गतिजातिशरीरांगोपांगनिर्माणबंधनसंघातसंस्थान-संहननस्पर्शरसगंधवर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः) गति, जाति, शरीर, अंगोपांग, निर्माण, बंधन, संघात, संस्थान, संहनन, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, आनुपूर्व्य, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास और विहायोगति ये इक्कीस तथा (प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशःकीर्तिसेतराणि) प्रत्येक शरीर, त्रस, सुभग, सुस्वर, शुभ, सूक्ष्म, पर्याप्ति, स्थिर, आदेय, यशःकीर्ति ये दश तथा इनकी उलटी साधारण शरीर, स्थावर, दुर्भग, दुःस्वर, अशुभ, बादर, अपर्याप्ति, अस्थिर, अनादेय और अयशःकीर्ति ये दश (च) और (तीर्थकरत्वं) तीर्थकरत्व, इस प्रकार ब्यालीस प्रकृति हैं ॥ ११ ॥

१ जिसके उदयसे आत्मा नरकादिरूप अवस्थाओंको प्राप्त होता है, सो गतिनामकर्म है। यह चार प्रकार है—१ नरकगति, २ तिर्यंचगति, ३ देवगति और ४ मनुष्यगति। जिसके उदयसे आत्मा नारकरूप होवे, उसको नरकगतिनामकर्म; जिसके

उदयसे तिर्यंचरूप होवे, उसे तिर्यगति नामकर्म; जिसके उदयसे मनुष्यजन्मको प्राप्त हो, उसे मनुष्यगति नामकर्म और जिसके उदयसे देव पर्यायको प्राप्त हो, उसे देवगति नामकर्म कहते हैं।

२ उक्त नरकादि गतियोंमें जो अविरोधी समानधर्मोंसे आत्माको एकरूप करता है, सो जातिनामकर्म है। उसके पांच भेद हैं—१ एकेंद्रियजातिनामकर्म, २ द्वींद्रियजातिनामकर्म, ३ त्रींद्रियजाति नामकर्म, ४ चतुरिंद्रियजातिनामकर्म और ५ पंचेंद्रियजातिनामकर्म। जिसके उदयसे आत्मा एकेंद्रियजाति हो, उसे एकेंद्रियजाति नामकर्म, जिसके उदयसे द्वींद्रियजाति हो उसे द्वींद्रियजाति, जिसके उदयसे त्रींद्रियजाति हो उसे त्रींद्रियजाति, जिसके उदयसे चतुरिंद्रियजाति हो उसे चतुरिंद्रियजाति और जिसके उदयसे पंचेंद्रियजाति हो उसे पंचेंद्रियजाति नामकर्म कहते हैं।

३ जिसके उदयसे शरीरकी रचना होती है, उसे शरीरनामकर्म कहते हैं। शरीर नामकर्म भी पांच प्रकारका है—१ औदारिकशरीर २ वैक्रियिकशरीर, ३ आहारकशरीर, ४ तैजसशरीर और ५ कार्मणशरीर। जिसके उदयसे औदारिकशरीरकी रचना हो, वह औदारिकशरीर; जिसके उदयसे वैक्रियिकशरीरकी रचना हो, वह वैक्रियिकशरीर; जिसके उदयसे आहारकशरीरकी रचना हो, वह आहारकशरीर; जिसके उदयसे तैजसशरीरकी रचना हो, वह तैजस शरीर और जिसके उदयसे कार्मणशरीरकी रचना हो, वह कार्मण शरीर नामकर्म है।

४ जिसके उदयसे अंग उपांगोंका भेद प्रगट हो, उसको

अंगोपांगनामकर्म कहते हैं। मस्तक, पीठ, हृदय[1], बाहु, उदर जांघ, हाथ और पांय इनको अंग कहते हैं और इनके ललाट नासिकादि भागोंको उपांग कहते हैं। अंगोपांग नामकर्म तीन प्रकारका है;—१ औदारिकशरीरांगोपांग, २ वैक्रियिकशरीरांगोपांग और ३ आहारकशरीरांगोपांग।

५ जिसके उदयसे अंग उपांगोंकी उत्पत्ति हो, उसे निर्माण-नामकर्म कहते हैं। निर्माण नामकर्म दो प्रकारका है;—१ स्थाननिर्माण, २ प्रमाणनिर्माण। जातिनामा नामकर्मके अनुसार जो नाक कान आदिको योग्य स्थानमें निर्माण करता है, सो तो स्थान-निर्माण नामकर्म है और जो उन्हें योग्य लंबाई-चौडाई आदिका प्रमाण लिए रचता है, सो प्रमाणनिर्माण है।

६ जिसके उदयसे शरीरनामकर्मके वश ग्रहण किए हुए आहारवर्गणाके पुद्गलस्कंधोंके प्रदेशोंका मिलना हो, वह बंधननाम कर्म है। बंधन नामकर्म पांच प्रकारका है;—१ औदारिकबंधन-नामकर्म, २ वैक्रियिकबंधननामकर्म, ३ आहारकबंधननामकर्म, ४ तैजसबंधननामकर्म और ५ कार्मणबंधननामकर्म। जिसके उदयसे औदारिकबंध हो, सो औदारिकबंधन नामकर्म है। जिसके उदयसे वैक्रियिकबंध हो, वह वैक्रियिकबंधन नामकर्म है। जिसके उदयसे आहारकबंध हो, वह आहारकबंधन नामकर्म है। जिसके उदयसे तैजसबंध हो, वह तैजसबंधन नामकर्म है। और जिसके उदयसे कार्मणबन्ध हो, वह कार्मणबंधन नामकर्म है।

---

१ 'गोम्मटसार' में हृदयकी जगह नितम्ब और जंघावोंकी जगह तथा दोनों जंघाएं और भुजाएं कही हैं। बाहुमें हाथका समावेश है।

७ जिसके उदयसे औदारिक आदि शरीरोंकी छिद्ररहित अन्योन्यप्रदेशानुप्रवेशरूप संघटना (एकता) हो, उसे संघातनामकर्म कहते हैं। संघात भी १ औदारिकसंघात, २ वैक्रियिकसंघात, ३ आहारकसंघात, ४ तैजससंघात और ५ कार्मणसंघात भेदसे पांच प्रकारका है। जिसके उदयसे औदारिकशरीरमें छिद्ररहित सन्धियां (जोड) हों, वह औदारिकसंघात है। जिसके उदयसे वैक्रियिकशरीरमें संघात हो, वह वैक्रियिकसंघात है। जिसके उदयसे आहारकशरीरमें संघात हो, वह आहारकसंघात है। जिसके उदयसे तैजसशरीरमें संघात हो, वह तैजससंघात है। और जिसके उदयसे कार्मणशरीरमें संघात हो, वह कार्मणसंघात है।

८ जिसके उदयसे शरीरकी आकृति (आकार) उत्पन्न हो, उसे संस्थाननामकर्म कहते हैं। यह छह प्रकारका है;-१ समचतुरस्रसंस्थान नामकर्म, २ न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान नामकर्म, ३ स्वातिसंस्थान नामकर्म, ४ कुब्जकसंस्थान नामकर्म, ५ वामनसंस्थान नामकर्म और ६ हुंडकसंस्थान नामकर्म। जिसके उदयसे ऊपर, नीचे और मध्यमें समान विभागसे शरीरकी आकृति उत्पन्न हो उसे समचतुरस्रसंस्थान नामकर्म कहते हैं। जिसके उदयसे शरीरका नाभिके नीचेका भाग वटवृक्षके समान पतला हो और ऊपरका स्थूल व मोटा हो, वह न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान नामकर्म है। जिसके उदयसे शरीरके नीचेका भाग स्थूल या मोटा हो और ऊपरका पतला हो, उसे स्वातिसंस्थान नामकर्म कहते हैं। जिसके उदयसे पीठके भागमें बहुतसे पुद्गलोंका समूह हो अर्थात् कुबडा शरीर हो उसे कुब्जकसंस्थान नामकर्म कहते हैं। जिसके उदयसे शरीर बहुत छोटा हो, वह वामनसंस्थान नामकर्म है। और जिसके उदयसे

शरीरके अंग उपांग कहींके कहीं, छोटे बडे वा संख्यामें न्यूनाधिक हों, इस तरह विषम वेडौल आकारका शरीर हो, उसे हुंडकसंस्थान नामकर्म कहते हैं।

९ जिसके उदयसे शरीरके अस्थिपंजरादिके (हाड वगैरहके) बंधनोंमें विशेषता हो, उसे संहनननामकर्म कहते हैं। वह छह प्रकारका है;—१ वज्रवृषभनाराचसंहनन नामकर्म, २ वज्रनाराचसंहनन नामकर्म, ३ नाराचसंहनन नामकर्म, ४ अर्द्धनाराचसंहनन नामकर्म, ५ कीलक संहनन नामकर्म और ६ असंप्राप्तासृपाटिकासंहनन नामकर्म। नसोंसे हाडोंके बंधनेका नाम ऋषभ वा वृषभ है, नाराच नाम कीलनेका है और संहनन नाम हाडोंके समूहका है। सो जिस कर्मके उदयसे वृषभ (वेष्टन) नाराच (कील) और संहनन (अस्थिपंजर) ये तीनों ही वज्रके समान अभेद्य हों, उसे वज्रवृषभनाराचसंहनन नामकर्म कहते हैं। जिसके उदयसे नाराच और संहनन तो वज्रमय हों और वृषभ सामान्य हो, वह वज्रनाराचसंहनन नामकर्म है। जिसके उदयसे हाड तथा संधियोंके कीले तो हों, परंतु वे वज्रमय न हों और वज्रमय वेष्टन भी न हो, सो नाराचसंहनन नामकर्म है। जिसके उदयसे हाडोंकी संधियां अर्द्धकीलित हों, अर्थात् कीले एक तरफ तो हों दूसरी तरफ न हों, वह अर्द्धनाराचसंहनन नामकर्म है। जिसके उदयसे हाड परस्पर कीलित हों, सो कीलकसंहनन नामकर्म है। और जिसके उदयसे हाडोंकी संधियां कीलित तो न हों, किंतु नसों, स्नायुओं और मांससे बंधी हों, वह असंप्राप्तासृपाटिका संहनन नामकर्म है।

१० जिसके उदयसे शरीरमें स्पर्शगुण प्रगट होता है, उसे

स्पर्शनामकर्म कहते हैं। यह आठ प्रकारका है:–१ कर्कशस्पर्श नामकर्म, २ मृदुस्पर्श नामकर्म, ३ गुरुस्पर्श नामकर्म, ४ लघुस्पर्श नामकर्म, ५ स्निग्धस्पर्श नामकर्म, ६ रूक्षस्पर्श नामकर्म, ७ शीत-स्पर्श नामकर्म और ८ उष्णस्पर्श नामकर्म।

११ जिसके उदयसे देहमें रस (स्वाद) उत्पन्न हो, उसे रसनामकर्म कहते हैं। यह पांच प्रकारका है;–१ तिक्तरस नामकर्म, २ कटुरस नामकर्म, ३ कषायरस नामकर्म, ४ आम्लरस नामकर्म, और ५ मधुररस नामकर्म।

१२ जिसके उदयसे शरीरमें गंध प्रगट हो, सो गंधनामकर्म है। यह दो प्रकारका है। एक सुगंध नामकर्म, दूसरा दुर्गंध नामकर्म।

१३ जिसके उदयसे शरीरमें वर्ण (रंग) उत्पन्न हो, उसे वर्णनामकर्म कहते हैं। यह पांच प्रकारका है;–१ शुक्लवर्ण नामकर्म, २ कृष्णवर्ण नामकर्म, ३ हरितवर्ण नामकर्म, ४ रक्तवर्ण नामकर्म और ५ पीतवर्ण नामकर्म।

१४ पूर्वायुके उच्छेद होनेपर पूर्वके निर्माण नामकर्मकी निवृत्ति होनेपर विग्रहगतिमें जिसके उदयसे मरणसे पूर्वके शरीरके आकारका विनाश नहीं हो, उसे आनुपूर्व्य नामकर्म कहते हैं। इसके चार भेद हैं; १ नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य नामकर्म, २ देवगतिप्रायोग्या-नुपूर्व्य नामकर्म, ३ तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्य नामकर्म और ४ मनुष्य-गतिप्रायोग्यानुपूर्व्य नामकर्म। जिस समय मनुष्य व तिर्यंचकी आयु पूर्ण हो और आत्मा शरीरसे पृथक् होकर नरक भव प्रति जानेको संमुख हो, उस समय मार्गमें जिसके उदयसे आत्माके प्रदेश पहले

शरीरके आकारके रहते हैं, उसको **नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य** कहते हैं। इस कर्मका उदय विग्रहगतिमें ही होता है। इस प्रकार अन्य तीनों भी समझना। इस कर्मका उदयकाल जघन्य एक समय, मध्यम दो समय और उत्कृष्ट तीन समय मात्र है।

१५ जिसके उदयसे जीवोंका शरीर लोहपिंडके समान भारीपनके कारण नीचे नहीं पड जाता है, और आककी रुईके समान हलके-पनसे उड भी नहीं जाता है, उसको **अगुरुलघु नामकर्म** कहते हैं। यहांपर शरीरसहित आत्माके सम्बन्धमें अगुरुलघु कर्मप्रकृति मानी गई है। और द्रव्योंमें जो अगुरुलघुत्व है, वह स्वाभाविक गुण है।

१६ जिसके उदयसे शरीरके अवयव ऐसे होते हैं कि उनसे उसीका बंधन वा घात हो जाता है, उसे **उपघातनामकर्म** कहते हैं।

१७ जिसके उदयसे पैने सींग नख वा डंक इत्यादि परको घात करनेवाले अवयव होते हैं, उसको **परघातनामकर्म** कहते हैं।

१८ जिसके उदयसे आतापकारी शरीर होता है, वह **आतप-नामकर्म** है। इस कर्मका उदय सूर्यके विमानमें जो बादर पर्याप्त जीव पृथिवीकायिक मणिस्वरूप होते हैं, उनके ही होता है, अन्यके नहीं होता।

१९ जिसके उदयसे उद्योतरूप शरीर होता है, सो **उद्योत-नामकर्म** है। इसका उदय चंद्रमाके विमानके, पृथ्वीकायिक जीवोंके तथा आगिया (पटवीजना जुगनू) आदि जीवोंके होता है।

२० जिसके उदयसे शरीरमें उच्छ्वास उत्पन्न हो, सो **उच्छ्वास नामकर्म** है।

२१ जिसके उदयसे आकाशमें गमन हो, उसे **विहायोगति-**

नामकर्म कहते हैं। यह दो प्रकारका है। जो हाथी बैल आदिकी गतिके समान सुंदर गमनका कारण होता है, वह तो प्रशस्तविहायोगति नामकर्म है। और जो ऊंट गर्दभादिकके समान असुंदर गमनका कारण होता है, सो अप्रशस्तविहायोगति नामकर्म है। मुक्त होनेपर जीवके तथा चेतनारहित पुद्गलके जो गति होती है, वह स्वाभाविक गति है, उसमें कर्म कारण नहीं हैं।

२२ जिसके उदयसे एक शरीर एक आत्माके भोगनेका कारण हो उसे **प्रत्येकशरीर नामकर्म** कहते हैं।

२३ जिसके उदयसे एक शरीर बहुतसे जीवोंके उपभोगनेका कारण हो, उसे **साधारणशरीरनामकर्म** कहते हैं। जिन अनंत जीवोंके आहारादि चार पर्याप्ति, जन्म, मरण, श्वासोच्छ्वास, उपकार और अपघात, एक और एकही कालमें होते हैं, वे **साधारण जीव** हैं। जिस कालमें जिस आहारादि पर्याप्ति जन्म मरण श्वासोच्छ्वासको एक जीव ग्रहण करता है, उसी कालमें उसी पर्याप्ति आदिको दूसरे भी वहांके अनंत जीव ग्रहण करते हैं। ये साधारण जीव वनस्पतिकायमें होते हैं, अन्य स्थावरोंमें नहीं होते। इनके साधारणशरीरनामकर्मका उदय रहता है।

२४ जिसके उदयसे आत्मा द्वींद्रियादिक शरीर धारण करता है सो **त्रसनामकर्म** है।

२५ जिसके उदयसे जीव पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और वनस्पतिकायमें उत्पन्न होता है, सो **स्थावरनामकर्म** है।

२६ जिसके उदयसे अन्यके प्रीति उत्पन्न हो अर्थात् दूसरोंके परिणाम देखते ही प्रीतिरूप हो जावें, सो **सुभगनामकर्म** है।

२७ जिसके उदयसे रूपादि गुणोंसे युक्त होनेपर भी दूसरोंको अप्रीति उत्पन्न हो, बुरा मालूम हो, उसे दुर्भगनामकर्म कहते हैं।

२८ जिसके उदयसे मनोज्ञ स्वरकी अर्थात् सबको प्यारे लगनेवाले शब्दकी प्राप्ति हो, उसे सुस्वरनामकर्म कहते हैं।

२९ जिसके उदयसे अमनोज्ञ स्वरकी प्राप्ति हो, उसे दुःस्वर नामकर्म कहते हैं।

३० जिसके उदयसे मस्तक आदि अवयव सुंदर हों—देखनेमें रमणीक हों, उसे शुभनामकर्म कहते हैं।

३१ जिसके उदयसे मस्तक आदिक अवयव रमणीय नहीं हों, उसे अशुभनामकर्म कहते हैं।

३२ जिसके उदयसे ऐसा सूक्ष्म शरीर प्राप्त हो, जो अन्य जीवोंके उपकार वा घात करनेमें कारण न हो, पृथ्वी जल अग्नि पवन आदिकसे जिसका घात नहीं हो, और जो पहाड़ आदिकमें प्रवेश करते हुए भी नहीं रुके, उसे सूक्ष्मशरीरनामकर्म कहते हैं।

३३ जिसके उदयसे अन्यको रोकने योग्य वा अन्यसे रुकने योग्य स्थूल शरीर प्राप्त हो, उसको बादरशरीरनामकर्म कहते हैं।

३४ जिसके उदयसे जीव आहारादि पर्याप्ति पूर्ण करता है, उसे पर्याप्तिनामकर्म कहते हैं। पर्याप्ति नामकर्म छह प्रकारका है;—१ आहारपर्याप्ति, २ शरीरपर्याप्ति, ३ इंद्रियपर्याप्ति, ४ प्राणापानपर्याप्ति, ५ भाषापर्याप्ति और ६ मनःपर्याप्ति।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि प्राणापानपर्याप्ति नामकर्मके उदयका जो उदरसे पवनका निकलना वा प्रवेश होना फल है, ...ी उच्छ्वास कर्मके उदयका भी है। फिर इन दोनोंमें अंतर क्या

हुआ ? सो इसका उत्तर यह है कि–इन दोनोंमें इंद्रिय अतींद्रियका भेद है। अर्थात् पंचेंद्रिय जीवोंके सर्दी-गर्मीके कारण जो स्वास चलती है और जिसका शब्द सुन पडता है, तथा मुंहके पास हाथ ले जानेसे जो स्पर्शसे मालूम होती है, वह तो उच्छ्वास नामकर्मके उदयसे होती है। और जो समस्त संसारी जीवोंके होती है और जो इंद्रियगोचर नहीं होती है, वह प्राणापानपर्याप्तिके उदयसे होती है एकेंद्रिय जीवोंके भाषा और मनको छोडकर चार; द्वींद्रिय, त्रींद्रिय चतुरिंद्रिय और असैनी पंचेंद्रिय जीवोंके भाषासहित पांच और सैनी पंचेंद्रियके छहों पर्याप्ति होती हैं।

३५ जिसके उदयसे जीव छहो पर्याप्तियोंमेंसे एकको भी पूर्ण नहीं कर सके, उसे अपर्याप्तिनामकर्म कहते हैं।

३६ जिसके उदयसे रसादिक सात धातुएं और उपधातुएं अपने अपने स्थानमें स्थिरताको प्राप्त हों, दुष्कर उपवासादिक तपश्चरणसे भी उपांगोंमें स्थिरता रहै-रोग नहीं होवे, उसे स्थिरनामकर्म कहते हैं। रस, रुधिर, मांस, मेद, हाड, मज्जा और वीर्य ये सात धातुएं हैं। वात, पित्त, कफ, शिरा, स्नायु, चाम और जठराग्नि ये सात उपधातुएं हैं।

३७ जिसके उदयसे किंचित् उपवासादिक करनेसे तथा किंचिन्मात्र सर्दी गर्मी लगनेसे अंगोपांग कृश हो जांय, धातु-उपधातुओंकी स्थिरता नहीं रहे, रोग हो जावें, उसे अस्थिरनामकर्म कहते हैं।

३८ जिसके उदयसे प्रभासहित शरीर हो, उसे आदेयनामकर्म कहते हैं।

३९ जिसके उदयसे शरीर प्रभारहित हो, वह अनादेयनाम-

कर्म है।

४० जिसके उदयसे पुण्यरूप गुणोंकी ख्याति-प्रसिद्धि हो उसे यशःकीर्तिनामकर्म कहते हैं।

४१ जिसके उदयसे पापरूप गुणोंकी ख्याति हो, उसे अयशः-कीर्तिनामकर्म कहते हैं।

४२ जिस प्रकृतिके उदयसे अचिंत्यविभूतिसंयुक्त तीर्थंकरपनेकी प्राप्ति हो, उसे तीर्थंकरत्वनामकर्म कहते हैं।

इस प्रकार नामकर्मकी ब्यालीस प्रकृतियां हैं और इनके अवांतर भेदोंको जोडनेसे सब त्यानवे हो जाती हैं। इनमें पहली चौदह प्रकृतियोंको पिंड (भेदवाली) प्रकृति कहते हैं॥ ११ ॥

उच्चैर्नीचैश्च ॥ १२ ॥

अर्थ-(उच्चैः) उच्चगोत्र (च) और (नीचैः) नीचगोत्र ऐसी दो प्रकृतियां गोत्रकर्मकी हैं। जिसके उदयसे लोकपूज्य इक्ष्वाकु आदि उच्चकुलोंमें जन्म हो, उसे उच्चगोत्रकर्म कहते हैं। और जिसके उदयसे निंद्य दरिद्री अप्रसिद्ध दुःखोंसे आकुलित चांडाला-दिके कुलमें जन्म हो, उसे नीचगोत्रकर्म कहते हैं ॥ १२ ॥

अब अन्तराय कर्मकी पांच प्रकृतियोंको कहते हैं;—

दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् ॥ १३ ॥

अर्थ—दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य इन पांच शक्तियोंमें विघ्न करनेवाला अर्थात् उन्हें रोकनेवाला पांच प्रकारका अंतराय कर्म है। जीव जिसके उदयसे देना चाहे, तो भी दान नहीं कर सके,

१ यहां ' यश ' शब्दका अर्थ उत्तम गुण, और ' कीर्ति ' शब्दका उनकी ख्याति (प्रशंसा) है।

उसे **दानांतरायकर्म** कहते हैं । इच्छा करते हुए भी जिसके उदयसे लाभ नहीं हो सके, उसे **लाभांतरायकर्म** कहते हैं । जीव भोग किया चाहे, तथापि जिसके उदयसे भोगनेमें समर्थ न हो उसे **भोगांतरायकर्म** कहते हैं । जिसके उदयसे उपभोग करनेमें समर्थ न हो, उसे **उपभोगांतरायकर्म** कहते हैं । जिसके उदयसे शरीरमें सामर्थ्य प्राप्त न हो, उसे **वीर्यांतरायकर्म** कहते हैं । गंध, अतर, पुष्प, स्नान, तांबूल, अंगराग, भोजन, पान आदिक जो एक ही वार भोगे जाते हैं, वे भोग हैं और शय्या, आसन, स्त्री, आभरण, हाथी, घोडा आदि जो वार वार भोगनेमें आते हैं, वे उपभोग हैं ॥ १३ ॥

इस प्रकार ज्ञानावरणादि आठों कर्मोंकी उत्तरप्रकृतियोंके बंधके भेद बताये गये । अब स्थितिबंधको कहते हैं । कर्म अपने स्वभावको छोडकर जितने काल तक आत्मासे जुदा नहीं होता है उतने कालतक उनके आत्माके साथ बंधे रहनेको **स्थितिबंध** कहते हैं । स्थितिबंध दो प्रकारका है, एक जघन्य स्थितिबंध और दूसरा उत्कृष्ट स्थितिबंध । इनमेंसे पहले सब कर्मोंका उत्कृष्ट स्थितिबंध कहते हैं,—

आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपम-
कोटीकोट्यः परा स्थितिः ॥ १४ ॥

अर्थ-(आदितः) आदिके (तिसृणाम्) तीन कर्मोंकी अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वेदनीय कर्मकी (च) और (अन्तरायस्य) अंतराय कर्मकी (परा स्थितिः) उत्कृष्ट स्थिति (त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटयः) तीस कोडाकोडी सागरकी है ।

इस उत्कृष्ट स्थितिका बन्ध मिथ्यादृष्टी संज्ञी पंचेंद्रिय पर्याप्तक जीवोंके होता है ॥ १४ ॥

सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥ १५ ॥

अर्थ-(मोहनीयस्य) मोहनीयकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति (सप्ततिः) सत्तर कोडाकोडी सागरकी है ॥ १५ ॥

विंशतिर्नामगोत्रयोः ॥ १६ ॥

अर्थ-(नामगोत्रयोः) नामकर्म और गोत्रकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति (विंशतिः) वीस कोडाकोडी सागरकी है ॥ १६ ॥

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ॥ १७ ॥

अर्थ-(आयुषः) आयुकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति (त्रयस्त्रिंश-त्सागरोपमाणि) तेतीस सागरकी है ॥ १७ ॥

अब कर्मोंकी जघन्य (कमसे कम) स्थितिको बताते हैं;—

अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य ॥ १८ ॥

अर्थ-(वेदनीयस्य) वेदनीकर्मकी (अपरा) जघन्य स्थिति (द्वादशमुहूर्ता) बारह मुहूर्तकी है ॥ १८ ॥

नामगोत्रयोरष्टौ ॥ १९ ॥

अर्थ-(नामगोत्रयोः) नामकर्म और गोत्रकर्मकी जघन्य स्थिति (अष्टौ) आठ मुहूर्तकी है ॥ १९ ॥

शेषाणामंतर्मुहूर्ता ॥ २० ॥

अर्थ-(शेषाणाम्) बाकीके ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय अंतराय और आयु इन पांच कर्मोंकी जघन्य स्थिति (अंतर्मुहूर्ता)

---

१ दो घडीका अथवा अडतालीस मिनिटका एक मुहूर्त होता है।

अंतर्मुहूर्त है ॥ २० ॥

इस प्रकार स्तितिबंध कहा गया । अब अनुभागबंधका वर्णन करते हैं;—

विपाकोऽनुभवः ॥ २१ ॥

अर्थ-(विपाकः) कर्मोंका जो विपाक है अर्थात् उनमें जो फलदानशक्तिका पड जाना और उदयमें आकर अनुभव होने लगना है, सो (अनुभवः) अनुभव वा अनुभाग है । भावार्थ—तीव्र मंद कषायरूप जिस प्रकारके भावोंसे कर्मोंका आस्रव हुआ है, उनके अनुसार कर्मोंकी फलदायक शक्तिमें तीव्रता मंदता होनेको अनुभागबंध कहते हैं ॥ २१ ॥

स यथानाम ॥ २२ ॥

अर्थ-(सः) वह अनुभागबंध (यथानाम) कर्मकी प्रकृतियोंके नामानुसार होता है । भावार्थ—प्रकृतियोंका जैसा नाम है, वैसा ही उनका अनुभव होता है। जैसे ज्ञानावरणका फल ज्ञानका आवरण करना है और दर्शनावरणका फल दर्शनशक्तिको रोकना है। इसी प्रकार मूलप्रकृति और उत्तरप्रकृतियोंमें जिसका जैसा नाम है उनमें वैसी ही फलदानशक्ति और वही अनुभव है ॥ २२ ॥

ततश्च निर्जरा ॥ २३ ॥

अर्थ-(ततः) इस अनुभवके पश्चात् इन कर्मोंकी (निर्जरा) निर्जरा हो जाती है। अर्थात् कर्म हैं सो फल देकर आत्मासे पृथक् हो जाते हैं। यह निर्जरा दो प्रकारकी है । एक सविपाक दूसरी

---

१ समयाधिक आवलीसे ऊपर एक मुहूर्तके अर्थात् अडतालीस मिनिटके भीतर भीतरके समयको अन्तर्मुहूर्त कहते हैं ।

अविपाक। कर्मोंका उदयकाल आनेपर रस देकर अपने आप झड जाना सविपाकनिर्जरा है। यह सविपाकनिर्जरा चारों गतिमें रहनेवाले समस्त संसारी जीवोंके हुआ करती है। और कर्मोंके उदयकालके आये विना ही उन्हें तपश्चरणादि करके अनुदय अवस्थामें ही झडा देना अविपाकनिर्जरा है। यहां सूत्रमें ' च ' आया है; सो आगे जो " तपसा निर्जरा च " सूत्र कहेंगे, उस अर्थका संग्रह करनेके लिए है ॥ २३ ॥

अब प्रदेशबंध को कहते हैं;—

नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेपात्सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनंतानंतप्रदेशाः ॥ २४ ॥

अर्थ—(नामप्रत्ययाः) ज्ञानावरणादिक कर्मोंकी प्रकृतियोंके कारणभूत और (सर्वतः) समस्त भावोंमें वा सब समयोंमें (योगविशेपात्) मनवचनकायकी क्रियारूप योगोंसे (सर्वात्मप्रदेशेपु) आत्माके समस्त प्रदेशोंमें (सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः) सूक्ष्म तथा एकक्षेत्रावगाहरूप स्थित जो (अनंतानंतप्रदेशाः) अनंतानंत कर्मपुद्गलोंके प्रदेश हैं, उनको प्रदेशबंध कहते हैं। भावार्थ—आत्माके योगविशेषों द्वारा त्रिकालमें बंधनेवाले, ज्ञानावरणादि कर्मप्रकृतियोंके कारणीभूत, तथा आत्माके समस्त प्रदेशोंमें व्याप्त होकर कर्मरूप परिणमने योग्य, सूक्ष्म और जिस क्षेत्रमें आत्मा ठहरा हो उसी क्षेत्रको अवगाह कर ठहरनेवाले ऐसे, अनंतानंतप्रदेशरूप पुद्गलस्कंधोंको प्रदेशबंध कहते हैं ॥ २४ ॥

बंध पदार्थके अंतर्भूत पुण्यबंध और पापबंध भी हैं, इसलिए अब पुण्यप्रकृतियोंको कहते हैं;—

सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ॥ २५ ॥

अर्थ–(सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि) सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभनाम और शुभगोत्र ये (पुण्यम्) पुण्यरूप प्रकृतियां हैं। आठ कर्मोंमेंसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय इन चार कर्मोंको घातियाकर्म कहते हैं। ये चारो कर्म आत्माके अनुजीवी गुणोंका घात करते हैं, इस कारण इनको घातियाकर्म कहते हैं। वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र ये चार कर्म आत्माके अनुजीवी गुणोंका घात नहीं करते, इस कारण इनको अघातियाकर्म कहते हैं। घातियाकर्म तो चारों अशुभ (पाप) रूप ही हैं। परन्तु अघातिया पुण्य और पाप दोनों रूप हैं। उनकी अडसठ प्रकृतियां पुण्यरूप हैं। वे इस प्रकार हैं,–१ सातावेदनीय, २ तिर्यगायु, ३ मनुष्यायु, ४ देवायु और ५ उच्चगोत्र ये पांच, और नामकर्मकी १ मनुष्यगति, २ देवगति, ३ पंचेंद्रियजाति, ४ निर्माण, ५ समचतुरस्रसंस्थान, ६ वज्रर्षभनाराच संहनन, ७ मनुष्यगत्यानुपूर्वी, ८ देवगत्यानुपूर्वी, ९ अगुरुलघु, १० परघात, ११ उच्छ्वास, १२ आतप, १३ उद्योत, १४ प्रशस्तविहायोगति, १५ प्रत्येकशरीर, १६ त्रस, १७ सुभग, १८ सुस्वर, १९ शुभ, २० बादर, २१ पर्याप्ति २२ स्थिर, २३ आदेय, २४ यशःकीर्ति, २५ तीर्थकरत्व, और २६–३० पांच शरीर, ३१–३३ तीन अंगोपांग, ३४–३८ पांच बंधन, ३९–४३ पांच संघात, ४४–५१ आठ प्रशस्त स्पर्श,[१]

---

१ स्पर्शादिक बीस प्रकृतियां प्रशस्तरूप और अप्रशस्तरूप भी हैं। प्रशस्त तो पुण्यप्रकृतिमें और अप्रशस्त पापप्रकृतिमें ग्रहण की है। जैसे नीमके पत्तेका कटुक रस ऊंटको अच्छा लगता है पर मनुष्यादिकोंको बुरा लगता है। इसी प्रकार रूप वगैरहके भी दृष्टांत समझ लेना चाहिये।

५२-५६ पांच प्रशस्त रस, ५७-५८ दो गंध, और ५९-६३ पांच प्रशस्त वर्ण ॥ २५ ॥

अतोऽन्यत्पापम् ॥ २६ ॥

अर्थ-(अतः) उक्त अडसठ प्रकृतियोंके (अन्यत्) सिवाय अर्थात् ज्ञानावरणकी पांच, दर्शनावरणकी नौ, मोहनीयकी अट्ठाईस, अंतरायकी पांच, असातावेदनीय; नरकायु, नीचगोत्र, नामकर्मकी पचास-(जिनमें स्पर्शादि बीस अप्रशस्त भी हैं) नरकगति, तिर्यग्गति, एकेंद्रियादि जाति चार, संस्थान पांच, संहनन पांच, नरकगत्यानुपूर्व्य, तिर्यगत्यानुपूर्व्य, उपघात, अप्रशस्तविहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्ति, साधारणशरीर, अशुभ, दुर्भग, अस्थिर, दुःस्वर, अनादेय और अयशःकीर्ति, इसप्रकार मिलकर एक सौ प्रकृति अशुभरूप वा पापप्रकृति हैं ॥ २६ ॥

इति श्रीमदुमास्वामिविरचिते तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

नवम अध्याय

आस्रवनिरोधः संवरः ॥ १ ॥

अर्थ-(आस्रवनिरोधः) आस्रवोंका निरोध करना सो (संवरः) संवर है। अर्थात् कर्मोंके आनेके निमित्तरूप मन वचन काय योगोंके तथा मिथ्यात्व और कषायादिकोंके निरोध होनेसे अनेक सुख दुःखोंके कारणरूप कर्मोंकी प्राप्तिका अभाव होना, संवर है। संवर दो प्रकारका है-एक द्रव्यसंवर और दूसरा भावसंवर। पुद्गलमय कर्मोंके आस्रवका रुकना, द्रव्यसंवर है। और द्रव्यमय आस्रवोंको रोकनेमें

कारणरूप आत्माके भावोंका होना, भावसंवर है ॥ १ ॥

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ॥ २ ॥

अर्थ-(सः) वह संवर (गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः) तीन गुप्तियोंसे, पांच समितियोंसे, बारह अनुप्रेक्षाओंके चिंतवनसे, बाईस परीषहोंके जीतनेसे और पांचप्रकारके चारित्र पालनेसे, इस प्रकार छह कारणोंसे होता है। संसारमें रुलानेवाले प्रवृत्तिरूप भावोंसे आत्माकी रक्षा करनेको अर्थात् उनके न होने देनेको गुप्ति कहते हैं। किसी जीवको कुछ पीडा न हो जाय, इस विचारसे यत्नाचाररूप प्रवृत्ति करनेको समिति कहते हैं। अपने इष्ट-सुखके स्थानमें जो धरे वा पहुंचा देवे, उसे धर्म कहते हैं। शरीरादि परद्रव्योंके और आत्माके स्वरूपके चिंतवन करनेको अनुप्रेक्षा कहते हैं। क्षुधा तृषादिकी वेदना उत्पन्न होनेपर उसे कर्मोंकी निर्जराकेलिए क्लेशरहित परिणामोंसे सह लेनेको परिषहजय कहते हैं। और संसारपरिभ्रमणकी कारणरूप क्रियाओंके त्याग करनेको चारित्र कहते हैं ॥ २ ॥

तपसा निर्जरा च ॥ ३ ॥

अर्थ-(तपसा) बारहप्रकारके तप करनेसे (निर्जरा) निर्जरा (च) और संवर दोनों होते हैं। यद्यपि दशप्रकारके धर्मोंमें तप आगया है; परंतु समस्त प्रकारके संवरोंके तप एक प्रधान कारण हैं, इसलिए इनको भिन्न कहा है। तपके प्रभावसे नये कर्मोंका संवर (निरोध) होता है और सत्तामें रहनेवाले प्राचीन बद्ध कर्मोंकी निर्जरा होती है। यद्यपि तपका फल स्वर्गकी वा राज्यादिककी प्राप्ति होना भी है, परंतु प्रधानतासे समस्त कर्मोंका क्षय

करके आत्माको मुक्त करना ही इसका फल है। जैसे खेती करनेका प्रधान फल तो धान्य उत्पन्न होना ही है, किंतु गौणतासे उसमें भुसा आदि भी उत्पन्न हो जाते हैं ॥ ३ ॥

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ॥ ४ ॥

अर्थ—(सम्यक्) भले प्रकार (योगनिग्रहः) मन वचन कायकी यथेच्छ प्रवृत्तिको रोकना सो (गुप्तिः) गुप्ति है। गुप्ति तीन हैं। मनोयोगको रोकना सो मनोगुप्ति है। वचनयोगको रोकना सो वाग्गुप्ति है। और काययोगको रोकना सो काय-गुप्ति है ॥ ४ ॥

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥ ५ ॥

अर्थ—(ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः) ईर्या, भाषा, एषण, आदाननिक्षेप और उत्सर्ग ये पांच (समितयः) समितियां हैं। ऊपरके सूत्रमें जो 'सम्यक्' शब्द आया है, उसकी अनुवृत्ति[1] इन पांचोंमें आती है। अर्थात्—सम्यगीर्या, सम्यग्भाषा, सम्यगेषणा, सम्यगादाननिक्षेपण और सम्यगुत्सर्ग, समितिके ऐसे पांच सार्थक नाम हैं। जो जीवोंके उत्पत्तिस्थानोंका ज्ञाता मुनि, सावधान होकर सूर्योदयके पश्चात् जब नेत्रोंमें विषयग्रहण करनेकी सामर्थ्य हो जाय और मनुष्य तिर्यंचोंके चलनेसे मर्दित होकर मार्ग प्रासुक हो जाय तब आगेकी चार हाथ भूमिको भले प्रकार देखकर धीरे धीरे चलता है, उस मुनिके पृथ्वीकाय जलकायादि जीवोंकी हिंसाके अभावसे सम्यगीर्यासमिति होती है। और हित (परजीवोंको हितकारी) मित (थोडा) संदेहरहित प्रियवचनोंका बोलना, सो सम्यग्भाषा

१ जो पद (शब्द) ऊपरके सूत्रोंसे ग्रहण किये जाते हैं वे अनुवृत्ति कहाते हैं।

समिति है। दिनमें एक बार निर्दोष आहार ग्रहण करना, सो सम्यगेषणासमिति है। शरीर, पुस्तक, कमंडलु आदि उपकरणोंको नेत्रोंसे देखकर और पीछीसे शोधकर ग्रहण करने तथा स्थापन करने रूप प्रवृत्ति रखना, सम्यगादाननिक्षेपणसमिति है। और त्रस स्थावर जीवोंको पीडा न हो, ऐसी शुद्ध जंतुरहित भूमिपर मलमूत्रादि क्षेपणकर प्रासुक जलसे शौचक्रिया करना, सम्यगुत्सर्गसमिति है ५

उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागा-
किंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥ ६ ॥

अर्थ-(उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि) उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य ये दश (धर्मः) धर्म हैं। दुष्ट लोगोंकेद्वारा तिरस्कार, हास्य, ताडन, मारण, आदि क्रोधकी उत्पत्तिके कारण उपस्थित होनेपर भी परिणामोंमें मलिनता न लानेको उत्तमक्षमा कहते हैं। उत्तम जाति, उत्तम कुल, रूप, विज्ञान, ऐश्वर्य, बल आदिके विद्यमान होते हुए भी मान (गर्व) नहीं करनेको उत्तम मार्दव कहते हैं। अथवा अन्यकेद्वारा तिरस्कारादिक होनेपर भी अभिमान न करना, सो उत्तम मार्दव है। मनवचनकायकी कुटिलताका (वक्रताका) अभाव, सो उत्तम आर्जव है। अन्यके धन स्त्री आदिक पदार्थोंमें अभिलाषाका अभाव तथा परिणामोंको मलिन करनेवाले लोभका अभाव उत्तमशौच[1] है। सुन्दर हित मित रूप

---

१ चतुर्थ धर्मका नाम उत्तम शौच है, और पंचम धर्मका नाम उत्तम सत्य है। क्रोध, मान, माया और लोभके अभाव होनेपर क्रमसे क्षमा, मार्दव, आर्जव और शौच धर्म प्रगट होते हैं।

सत्य वचन बोलना, सो उत्तम सत्य है। संयम धर्म दो प्रकारका है, एक प्राणिसंयम और दूसरा इंद्रियसंयम। ईर्यासमिति आदिकमें प्रवर्त्ते हुए मुनि जीवोंकी रक्षाकेलिये जो एकेंद्रियादि प्राणियोंकी पीडा करनेका त्याग करते हैं, सो प्राणिसंयम है। और इंद्रियोंके विषयोंमें रागका अभाव, सो इंद्रियसंयम है। कर्मोंको क्षय करनेकेलिए अनशनादि तप करना, सो उत्तम तप है। संयमी पुरुषोंको योग्य आहारादिका देना--दान करना, सो उत्तम त्याग है। आत्मस्वरूप भिन्न शरीरादिकमें ममत्वरूप परिणामोंका अभाव सो उत्तम आकिंचन्य है। अपनी तथा परकी स्त्रीके विषयमें जो रागादिक तथा विषयसेवनरूप भाव होते हैं, उनके अभावको और ब्रह्म (अपनी आत्मा) में ही रमण करनेको उत्तम ब्रह्मचर्य कहते हैं। इस प्रकार उक्त दश धर्म, संवरकेलिये धारण करना चाहिये ॥६॥

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोक-
बोधिदुर्लभधर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिंतनमनुप्रेक्षाः ॥ ७ ॥

अर्थ—(अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिंतनम्) अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्मस्वाख्याततत्त्व इन बारहके स्वरूपको बारबार चिंतवन करना सो (अनुप्रेक्षाः) अनुप्रेक्षा हैं। 'इंद्रियोंके विषय धन यौवन जीवितव्य आदि जलके बुदबुदोंके समान अस्थिर हैं-अनित्य हैं, देखते देखते ही नष्ट हो जानेवाले हैं' इस प्रकार चिंतवन करना, सो अनित्यानुप्रेक्षा है। 'जैसे वनके एकांतस्थानमें सिंहकेद्वारा पकडे हुए मृगको कोई शरण नहीं होता है, उसीप्रकार

इस संसारमें कालके गालमें पडते हुए जीवोंको भी कोई रक्षा करने-वाला वा शरण नहीं है, ' इस प्रकार चिंतवन करना, सो अशरणानुप्रेक्षा है। ' यह जीव निरंतर एक देहसे दूसरी देहमें जन्म ले ले कर चतुर्गतिमें परिभ्रमण किया करता है और संसार दुःखमय है, इत्यादि संसारके स्वरूपका चिंतवन करना, सो संसारानुप्रेक्षा है। जन्म जरा मरण रोग वियोग आदि महादुःखोंमें अपनेको असहाय एकाकी चिंतवन करना अर्थात् यह सोचना कि ' सुख दुःख सहनेमें मैं अकेला हूं, मेरा कोई साथी नहीं है, ' सो एकत्वानुप्रेक्षा है। शरीर कुटुंबादिकसे अपने स्वरूपको भिन्न चिंतवन करना, सो अन्यत्वानुप्रेक्षा है। ' शरीर हाड मांस मल मूत्र आदिसे भरा हुआ महा अपवित्र है, ' इस प्रकार अपने शरीरके स्वरूपको चिंतवन करना, सो अशुचित्वानुप्रेक्षा है। ' मिथ्यात्व अविरत कषाय आदि-कोंसे कर्मोंका आस्रव होता है। आस्रव ही संसारमें परिभ्रमणका कारण और आत्माके गुणोंका घातक है, ' इस प्रकार आस्रवके स्वरूपको चिंतवन करना, सो आस्रवानुप्रेक्षा है। संवरके स्वरूपको चिंतवन करना, सो संवरानुप्रेक्षा है। ' कर्मोंकी निर्जरा किस प्रकार होती हैं? कैसे उपायोंसे होती है? इत्यादि निर्जराके स्वरू-पको बारबार चिंतवन करना, सो निर्जरानुप्रेक्षा है। ' लोक कितना बडा है? उसमें क्या क्या रचनाएं हैं? कौन कौन जातिके जीवोंका कहां कहां निवास है?' इत्यादि लोकके स्वरूपको चिंतवन करना, सो लोकानुप्रेक्षा है। ' सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्य-क्चारित्र इस रत्नत्रयको बोधि कहते हैं। इस बोधिकी प्राप्ति होना अतिशय दुर्लभ है,' इस प्रकार दुर्लभताका बारबार चिंतवन करना,

सो बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा है। धर्म है सो वस्तुका स्वभाव है, आत्माका शुद्ध निर्मल स्वभाव ही अपना धर्म है, तथा दर्शनज्ञानचारित्ररूप वा दशलक्षणरूप वा अहिंसारूप धर्म है, ' इत्यादि धर्मके स्वरूपको बारंबार चिंतवन करना, सो धर्मानुप्रेक्षा है । इन बारह अनुप्रेक्षाओंके चिंतवनसे भी संवर होता है ॥ ७ ॥

मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्याः परीषहाः ॥ ८ ॥

अर्थ-(मार्गाच्यवननिर्जरार्थं) रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गसे च्युत नहीं हो जावे; इसलिए तथा कर्मोंकी निर्जराकेलिए (परीषहाः) आगेके सूत्रमें कही हुई बाईस परीषह (परिसोढव्याः) सहनी चाहिए ॥ ८ ॥

क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनाऽलाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाऽज्ञानाऽदर्शनानि ॥ ९ ॥

अर्थ-१ क्षुधा, २ तृषा, ३ शीत, ४ उष्ण, ५ दंशमशक, ६ नाग्न्य, ७ अरति, ८ स्त्री, ९ चर्या, १० निषद्या, ११ शय्या, १२ आक्रोश, १३ वध, १४ याचना, १५ अलाभ, १६ रोग, १७ तृणस्पर्श, १८ मल, १९ सत्कारपुरस्कार, २० प्रज्ञा, २१ अज्ञान और २२ अदर्शन, इस प्रकार बाईस परीषह हैं । इन सब परीषहोंसे शरीरसंबधी वा मनसंबंधी जो अत्यंत पीडा होती है, उसे समभावोंसे सह लेनेसे संवर (कर्मास्रवका निरोध) होता है । अत्यंत क्षुधारूप अग्निके प्रज्वलित होनेपर उसे धैर्यरूपी जलसे शांत कर देना क्षुधापरीषहका विजय है । इसीप्रकार तृषाको भी सह लेना सो तृषापरीषहका जय है । शीतको सह लेनेसे शीतपरीषहका जय

होता है । ग्रीष्म ऋतुकी गर्मीके दुःखोंको सह लेना उष्णपरीषहका जीतना है । डांस मच्छर वगैरह जीवोंके काटनेकी पीडाको सह लेना दंशमशकपरीषहका जीतना है । नग्न होना बडा कठिन कार्य है । नग्न होकर भी अपने अंगोंको विकाररूप न होने देना लज्जादिकको जीत लेना सो नग्नपरीषहका जीतना है । क्षुधा तृषादिकी बाधासे संयममें अरति वा अरुचि होने लगे तो उसका न होने देना—संयममें निरंतर रुचि रखना सो अरतिपरीषहका जीतना है । सुंदर स्त्रियोंके हाव भावादिकोंसे विकृत न होना सो स्त्रीपरीषहका जीतना है । मार्गमें चलते हुये खेदखिन्न न होना सो चर्यापरीषहका जीतना है। ध्यानकेलिए संकल्प किये हुए आसनसे चलायमान नहीं होना सो निपद्यापरीपहका जीतना है । शास्त्रकी आज्ञानुसार शयनसे नहीं चिगना सो शय्यापरीषहका जीतना है । अनिष्ट वचनोंको सह लेना सो आक्रोशपरीषहका जीतना है । अपनेको मारनेवालेमें रोष नहीं करना, मारनेकी पीडाको सह लेना सो वधपरीषहका जीतना है । प्राण जाते भी आहारादिककेलिए दीनतारूप प्रवृत्ति नहीं करना सो याचनापरीषहका जीतना है । आहारादिककी प्राप्ति न होनेपर भी लाभके समान संतुष्ट रहना सो अलाभपरीषहका जीतना है । नाना प्रकारके रोग होनेपर भी इलाजकी इच्छा नहीं करना—रोगजनित पीडाको सह लेना सो रोगपरीषहका विजय है । मार्ग चलते समय तृण कंटक कंकरी वगैरह पांयोंमें चुभनेसे उत्पन्न हुई पीडाको सह लेना सो तृणस्पर्शपरीषहका विजय है । अपने मैले शरीरको देखकर ग्लानि न करना वा स्नानादिक करनेकी इच्छा न करना सो मल-परीषहका जीतना है । कोई अज्ञानी पुरुष अपमान करै—सन्मान

नहीं करै तो सन्मानकी इच्छा न रखकर मानापमानमें समभाव रखना सो सत्कारपुरस्कारपरीषहका जीतना है। विद्वत्ताके मदका अभाव सो प्रज्ञापरीषहका जीतना है। अपनी अज्ञानतासे अपना तिरस्कार होना और अभिलाषा करनेपर भी ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती ऐसे दुःखको सह लेना सो अज्ञानपरीषहका जीतना है। 'दीक्षा लिये बहुत दिन हो गये, मैं बडा तपस्वी हूं, तौ भी मुझे ऋद्धि वा अवधिज्ञानादिककी प्राप्ति नहीं हुई' ऐसी इच्छा नहीं करना सो अदर्शनपरीषहका जीतना है। इस प्रकार इन बाईस परीषहोंका जीतना परम संवरका कारण है ॥ ९ ॥

ये परीषह किन किन गुणस्थानोंमें कितनी कितनी होती हैं, सो कहते हैं;—

सूक्ष्मसांपरायच्छद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥ १० ॥

अर्थ-(सूक्ष्मसांपरायच्छद्मस्थवीतरागयोः) सूक्ष्मसांपराय नामक दशवें गुणस्थानवालोंके तथा छद्मस्थवीतराग अर्थात् उपशांत-कषाय नामक ग्यारहवें और क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थानमें रहनेवालोंके (चतुर्दश) चौदह परीषह होती हैं। क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, प्रज्ञा और अज्ञान ये चौदह परीषह दशवें, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें रहनेवालोंके होती हैं ॥ १० ॥

एकादश जिने ॥ ११ ॥

अर्थ-(जिने) तेरहवें गुणस्थानवर्ती जिनके अर्थात् केवली भगवानके (एकादश) ग्यारह परीषह होती हैं। छद्मस्थ जीवोंके वेदनीयकर्मके उदयसे क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या,

शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल ये वे ग्यारह परीषह हैं। केवली भगवान्के भी वेदनीयका उदय है. इस कारण उनके भी ग्यारह परीषह होती हैं। परन्तु मोहनीयकर्मके नष्ट होनेसे वेदनीयकर्मका उदय जोर नहीं कर सकता है। अर्थात् ये ग्यारह परीषह केवलीको कोई पीडा नहीं दे सकती हैं, इसलिए नहींसी हैं। सिर्फ वेदनीयकर्मके सद्भाव होनेसे नाममात्र ही कही जाती हैं॥ ११ ॥

बादरसांपराये सर्वे ॥ १२ ॥

अर्थ-(बादरसांपराये) स्थूलकषायवाले अर्थात् छठे, सातवें, आठवें और नौवें गुणस्थानवालोंके (सर्वे) सब परीषह होती हैं॥१२॥

ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ॥ १३ ॥

अर्थ-(प्रज्ञाज्ञाने) प्रज्ञापरीषह और अज्ञानपरीषह (ज्ञानावरणे) ज्ञानावरणकर्मके उदय होनेपर होती हैं॥ १३ ॥

दर्शनमोहांतराययोरदर्शनालाभौ ॥ १४ ॥

अर्थ-(अदर्शनालाभौ) अदर्शनपरीषह और अलाभपरीषह (दर्शनमोहांतराययोः) दर्शनमोह और अंतराय कर्मके उदय होनेपर होती हैं। अर्थात् दर्शनमोहके उदयसे अदर्शनपरीषह और अंतरायके उदयसे अलाभपरीषह होती है॥ १४ ॥

चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः ॥ १५ ॥

अर्थ-(चारित्रमोहे) चारित्रमोहनीयके उदय होनेपर (नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः) नग्नता, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कारपुरस्कार ये सात परीषह होती हैं॥ १५ ॥

वेदनीये शेषाः ॥ १६ ॥

अर्थ—(शेषाः) बाकीकी क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्य्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल ये ग्यारह परीषह (वेदनीये) वेदनीयकर्मके उदय होनेपर होती हैं ॥ १६ ॥

एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकोनविंशतेः ॥ १७ ॥

अर्थ—(एकस्मिन्) एक ही जीवमें (एकादयः) एकको आदि लेकर (युगपत) एक साथ (आ एकोनविंशतेः) उन्नीस परीषह तक (भाज्याः) विभाग करना चाहिए। भावार्थ—एक जीवके एक साथ उन्नीस परीषह हो सकती हैं। क्योंकि शीत उष्णमेंसे एक कालमें शीत या उष्ण एक ही परीषह होगी और शय्या, चर्या, निषद्या इन तीनोंमेंसे भी एक कालमें एक ही होगी, इस तरह एक समयमें तीन परीषहोंका सभीके अभाव होनेसे उन्नीसं परीषह ही एक साथ उदय हो सकती हैं ॥ १७ ॥

अब पांचप्रकारके चारित्रका वर्णन करते हैं;—

सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराय-
यथाख्यातमिति चारित्रम् ॥ १८ ॥

अर्थ—(सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपरायथाख्यातम्) सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि सूक्ष्मसांपराय, और यथाख्यात (इति) इस प्रकार पांच प्रकारका (चारित्रम्) चारित्र है। व्रतोंका धारण, समितिका पालन, कषायोंका निग्रह, मनवचनकायकी अशुभ प्रवृत्तिरूप अनर्थदंडोंका त्याग

---

१ श्रुतज्ञानसंबंधी प्रज्ञापरीषह और अवधिज्ञानावरणोदयजनित-अज्ञानपरीषह ये दोनों एक कालमें हो सकती हैं।

और इन्द्रियोंका विजय जिस जीवके हो, उसीके संयम होता है। सावद्य योगका भेदरहित जिसमें त्याग हो, उसे सामायिकचारित्र कहते हैं। प्रमादके कारण यदि कोई सावद्य कर्म बन जावे तो उससे उत्पन्न हुए दोषोंको प्रायश्चित्त लेकर छेद देवे और आत्माको फिर व्रतधारणादिरूप संयममें धारण करे, इस क्रियाको छेदोपस्थापना चारित्र कहते हैं। अथवा हिंसादिक सावद्य कर्मोका विभाग करके त्याग करना सो भी छेदोपस्थापनाचारित्र है। जीवोंकी पीडाका परित्याग करनेसे विशेष विशुद्धिका होना सो परिहारविशुद्धिचारित्र है। अतिसूक्ष्मकषायके उदयसे सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानमें जो चारित्र हो उसे सूक्ष्मसांपरायचारित्र कहते हैं। चारित्रमोहनीयकर्मके सर्वथा उपशम वा क्षय होनेसे अपने आत्मस्वभावमें स्थित होना सो यथाख्यातचारित्र है। सामायिक और छेदोपस्थापना ये दो चारित्र प्रमत्त, अप्रमत्त, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन चार गुणस्थानोंमें होते हैं। परिहारविशुद्धिचारित्र छट्ठे और सातवें गुणस्थानमें ही होता है। सूक्ष्मसांपरायचारित्र दशवें गुणस्थानमें होता है और यथाख्यातचारित्र ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानोंमें होता है ॥ १८ ॥

अब निर्जराके कारण बारह तपोंमेंसे बाह्यतपके भेद कहते हैं;—

अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्याग-
विविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः ॥ १९ ॥

अर्थ—(अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशाः) अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश इस प्रकार छह (बाह्यं

तपः) बाह्यतप हैं। लौकिक ख्यातिलाभादिकी इच्छा नहीं करके संयमकी सिद्धिकेलिये, रागभावोंका उच्छेद करनेकेलिये, कर्मोंके विनाशकेलिये, ध्यान स्वाध्यायकी सिद्धिकेलिये, इंद्रिय वा कामके दमनकेलिए तथा जीतनेकेलिये जो भोजनका त्याग करना सो **अनशनतप** है। और इन्हीं प्रयोजनोंकी सिद्धि वा ध्यानकी निश्चलतादिकेलिये अल्प भोजन करना सो **अवमोदर्यतप** है। ऐसी प्रतिज्ञा करके कि 'एक वा पांच सात घरमें ही जाऊंगा, अथवा एक वा दो ही मुहल्लोंमें जाऊंगा, वा रास्ते तथा मैदानमें ही भोजन मिलेगा, तो लूंगा, नगरमें नहीं जाऊंगा,' आहारकेलिये वनसे निकलना और नियमानुसार आहारकी विधि नहीं मिलनेपर वापिस वनमें आकर उपवास धारण कर लेना सो **वृत्तिपरिसंख्यान तप** है। इंद्रियोंके दमनार्थ, संयमकी रक्षार्थ और लालसाके त्यागार्थ घृत, दुग्ध, तेल, गुड, लवणादि रसोंका त्याग करना सो **रसपरित्यागतप** है। जीवोंकी रक्षार्थ, प्रासुक क्षेत्रमें, पर्वत, गुफा, मठ वनखंडादि ऐसे एकांतस्थानोंमें, जहां कि ब्रह्मचर्य स्वाध्याय ध्यानाध्ययनादिमें विघ्न न आवे ऐसे शयन वा आसन करना सो **विविक्तशय्यासनतप** है। शरीरमें ममत्व न रखके कायको क्लेशादिक होनेवाले तप करना सो **कायक्लेशतप** है। ये सब तप बाह्य द्रव्यकी अपेक्षासे होते हैं तथा बाह्यमें सबको दीखते हैं, इस कारण इनका नाम बाह्यतप है॥ १९॥

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम्।२०

अर्थ- (प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्याना-) प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये

छह (उत्तरम्) अभ्यंतरतप हैं। प्रमादसे लगे हुये दोषोंको शुद्ध करना सो प्रायश्चित्ततप है। पूज्यपुरुषोंका आदर करना सो विनयतप है। मुनियोंकी सेवा टहल करना सो वैयावृत्यतप है ज्ञानाराधनमें आलस्यको त्याग कर ज्ञानाध्ययन करना करावना उपदेश देना सो स्वाध्यायतप है। बाह्याभ्यंतर परिग्रहका त्याग करना सो व्युत्सर्गतप है। चित्तविक्षेपका त्याग करना सो ध्यानतप है ॥२०

अब इन तपोंके भेद कहते हैं;—

नवचतुर्दशपंचद्विभेदा यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ॥ २१ ॥

अर्थ (ध्यानात् प्राक्) ध्यानसे पहले पहलेके पांच तप (यथाक्रमं) क्रमसे (नवचतुर्दशपंचद्विभेदाः) नौ, चार दश, पांच और दो भेद रूप हैं। अर्थात्—नौप्रकारका प्रायश्चित्त है चारप्रकारका विनय है, दशप्रकारका वैयावृत्य है, पांचप्रकारका स्वाध्याय है और दोप्रकारका व्युत्सर्ग है ॥ २१ ॥

अब प्रायश्चित्तके नौ भेद कहते हैं;—

आलोचनाप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापनाः ॥ २२ ॥

अर्थ—प्रायः शब्दका अर्थ 'अपराध' है, और चित्त शब्दका अर्थ 'शुद्धि करना' है, सो अपराधोंको शुद्धि करनेको प्रायश्चित्त कहते हैं। इसके आलोचना, प्रतिक्रमण, आलोचना और प्रतिक्रमण दोनो, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थापना ऐसे नौ भेद हैं। गुरुके निकट जाकर अपने किए हुए अपराधोंको दशप्रकारके दोषोंसे रहित स्पष्ट स्पष्ट रीतिसे प्रगट करना सो आलोचना है। 'मैंने जो अपराध किये हैं सो मिथ्या होवो,' इस प्रकार कहना सो

प्रतिक्रमण है। कोई दोष तो आलोचनामात्रसे शुद्ध हो जाता है और कोई दोष प्रतिक्रमण करनेसे शुद्ध होता है, और कोई दोष दोनोंके करनेसे शुद्ध होता है, ऐसे आलोचना और प्रतिक्रमण दोनोंके करनेको तदुभयप्रायश्चित्त कहते हैं। आहार, पान वा उपकरण आदिसे अलग कर देना अर्थात् किसी नियत समय तक आहारादिकका त्याग करा देना सो विवेकप्रायश्चित्त है। कालका नियम करके कायोत्सर्ग करना सो व्युत्सर्ग है। अनशनादि तप वा उपवास, बेला, तेला पंचोपवासादि करना सो तप प्रायश्चित्त है। दिन, मास, संवत्सर आदि की दीक्षाका छेद करना सो छेदप्रायश्चित्त है। पक्ष मासादिकके नियमसे संघसे निकाल देना सो परिहारप्रायश्चित्त है। समस्त दीक्षाको छेदकर फिरसे नई दीक्षा देना सो उपस्थापनाप्रायश्चित्त है ॥ २२ ॥

अब विनय नामके अभ्यंतरतपके भेद कहते हैं,—

ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः ॥ २३ ॥

अर्थ—ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय और उपचारविनय इस तरह विनयके चार भेद हैं। आलस्यरहित होकर शुभ मनसे अत्यंत सन्मानपूर्वक जिनसिद्धांतोंका ग्रहण अभ्यास स्मरणादि करना सो ज्ञानविनय है। निःशंकितादि दोषरहित सम्यग्दर्शनका धारण करना सो दर्शनविनय है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानके धारी पांचप्रकारके चारित्रको पालनेवाले मुनिजनोंका नाम कानोंसे सुनते ही रोमांचित हो अंतरंगसे हर्षित होना, मस्तकपर अंजुलि करना, और भावोंमें चारित्र धारनेकी इच्छा रखना, सो चारित्रविनय है। आचार्य पूज्य पुरुषोंके प्रत्यक्ष होते ही खड़ा हो जाना, सन्मुख जाना,

हाथ जोडना, वंदन करना, पीछे पीछे गमन करना, तथा आचार्या-दिकके परोक्ष रहनेपर भी हाथ जोडना, गुणोंकी महिमा करना, वार वार स्मरण करना, उनकी आज्ञानुसार ही प्रवर्त्तना सो उपचार-विनय है ॥ २३ ॥

अब वैयावृत्यतपके भेद कहते हैं;-

आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्षग्लानगणकुलसंघसाधु-
मनोज्ञानाम् ॥ २४ ॥

अर्थ—आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु, और मनोज्ञ इन दशप्रकारके साधुओंकी सेवा टहल करना, सो दशप्रकारका वैयावृत्य है। जो व्रताचरण धारण करावें, प्रायश्चित्त दें, समस्त प्रकारके शास्त्रोंके जानकार हों और पंचाचारके धारियोंमें श्रेष्ठ हों सो आचार्य हैं। जो व्रत शील भावनाके आधार हों और जिनके निकट मुनिगण शास्त्राध्ययन करें सो उपाध्याय हैं। उपवासादिक महातप करें सो तपस्वी हैं। श्रुतज्ञानके अध्ययन करनेमें तत्पर और व्रत भावनादिमें निपुण हों सो शिष्य वा शैक्ष हैं। जिनका शरीर रोगादिकसे क्लेशरूप हो सो ग्लान हैं। जो बडे मुनि-योंकी परिपाटीके हों सो गण हैं। दीक्षा देनेवाले आचार्यके जो शिष्य हैं सो कुल हैं। जो चार प्रकारके मुनिसंघके साधु हैं सो संघ हैं। जो बहुत कालके दीक्षित हों सो साधु हैं। और जिनका उपदेश लोकमान्य हो अथवा उपदेश विना ही जो लोकमें पूज्य हों, प्रशंसावान हों, सो मनोज्ञ हैं। इन दश प्रकारके साधुओंका वैयावृत्य करना अर्थात् शरीरसंबधी व्याधि अथवा दुष्टजनोंके किये हुए उपस-र्गादिकमें सेवा टहल करना, दवाई वगैरह करना, सो दशप्रकारका

वैयावृत्य है ॥ २४ ॥

अब स्वाध्यायतपके भेद कहते हैं;—

वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः ॥ २५ ॥

अर्थ–वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश ये स्वाध्यायके पांच भेद हैं। निर्दोष ग्रंथका तथा ग्रंथके अर्थका तथा ग्रंथ और अर्थ दोनोंका विनयवान् धर्मके इच्छुक भव्य पात्रको पढाना सिखाना सुनाना सो वाचनास्वाध्याय है। शब्दमें वा शब्दके अर्थमें जो संशय हो, उसे दूर करनेकेलिए बडे ज्ञानियोंसे विनय-सहित प्रश्न करना, सो पृच्छनास्वाध्याय है। गुरु जनोंकी परिपाटीसे जाने हुए अर्थको मनन करके अभ्यास करना वा वारंवार चिंतवन करना सो अनुप्रेक्षास्वाध्याय है। पाठको शुद्धतापूर्वक घोखना, सो आम्नायस्वाध्याय है। उन्मार्गको दूर करनेकेलिए और पदार्थोंका समीचीन स्वरूप प्रकाश करनेकेलिए उपदेशरूप कथन करना, सो धर्मोपदेशस्वाध्याय है ॥ २५ ॥

अब व्युत्सर्गतपको कहते हैं;–

बाह्याभ्यंतरोपध्योः ॥ २६ ॥

अर्थ–व्युत्सर्गतप[१] दोप्रकारका है। एक बाह्योपधित्याग और दूसरा अभ्यंतरोपधित्याग। धन धान्यादि बाह्यपरिग्रहका त्याग सो बाह्योपधित्यागतप है और क्रोधादि अभ्यंतर परिग्रहोंका त्याग सो अभ्यंतरोपधित्यागतप है ॥ २६ ॥

अब ध्यानका स्वामी, लक्षण और वह कितने समय तक हो सकता है, यह बतलाते हैं:–

---

१ व्युत्सर्ग नाम त्यागका है। उपधि नाम परिग्रहका है।

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिंतानिरोधो ध्यानमांतर्मुहूर्त्तात् ॥ २७ ॥

अर्थ–(**उत्तमसंहननस्य**) उत्तम संहननवालेका (**आ अंतर्मुहूर्त्तात्**) अंतर्मुहूर्त्त पर्यंत (**एकाग्रचिंतानिरोधः**) एकाग्र चिंताका निरोध करना (ध्यानम्) ध्यान है। **भावार्थ**–छह संहननोंमेंसे पहलेके वज्रवृषभनाराचसंहनन, वज्रनाराचसंहनन और नाराचसंहनन ये तीन उत्तम संहनन हैं। ये ही तीन संहनन उत्कृष्ट ध्यानके कारण हैं। जिन पुरुषोंके ये तीन संहनन होते हैं, वे ही उत्कृष्ट ध्यान कर सकते हैं। यह ध्यान अधिकसे अधिक अंतर्मुहूर्त्त पर्यंत रहता है। मोक्ष होनेका कारणभूत वज्रवृषभनाराचसंहनन ही है। चित्तकी वृत्तिको अन्य क्रियाओंसे खींचकर एक ही ओर स्थिर करना सो एकाग्रचिंतानिरोध वा ध्यानतप है ॥ २७ ॥

अब ध्यानके भेद कहते हैं;–

आर्त्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि ॥ २८ ॥

अर्थ–आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान ऐसे चारप्रकारका ध्यान है। इनमेंसे आर्त्त और रौद्र ध्यान अप्रशस्त हैं और धर्म्य तथा शुक्ल ध्यान प्रशस्त हैं ॥ २८ ॥

परे मोक्षहेतू ॥ २९ ॥

अर्थ–(**परे**) अगले दो ध्यान अर्थात् धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान (**मोक्षहेतू**) मोक्षके कारण हैं। इसी वचनसे पहलेके दो आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान संसारके कारण हैं, ऐसा ध्वनित होता है।

अब पहले आर्त्तध्यानका लक्षण कहते हैं;–

आर्त्तममनोज्ञस्य संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ॥ ३० ॥

अर्थ–आर्त्तध्यानके चार भेद हैं, उनमेंसे (अमनोज्ञस्य) विष कंटक शत्रु शस्त्र आदिक अप्रिय पदार्थोंका (संप्रयोगे) संयोग हो जानेपर (तद्विप्रयोगाय) उसके दूर करनेकेलिए (स्मृतिसमन्वाहारः) वारंवार चिंता करना, विचार करना सो (आर्त्तम्) अनिष्टसंयोगज नामका पहला आर्त्तध्यान है ॥ ३० ॥

विपरीतं मनोज्ञस्य ॥ ३१ ॥

अर्थ–(मनोज्ञस्य) स्त्री पुत्र धन आदि प्यारे पदार्थोंका (विपरीतं) पूर्वोक्तसे विपरीत चिंतवन करना अर्थात् वियोग होनेपर उनकी प्राप्तिकेलिए वारंवार चिंता करना, इष्टवियोगज नामका दूसरा आर्त्तध्यान है ॥ ३१ ॥

वेदनायाश्च ॥ ३२ ॥

अर्थ–(च) और (वेदनायाः) वेदनाका अर्थात् रोगजनित पीडाका चिंतवन करना, अधीर हो जाना, विलापादिक करना सो वेदनाजनित तीसरा आर्त्तध्यान है ॥ ३२ ॥

निदानं च ॥ ३३ ॥

अर्थ–(च) और (निदानं) आगामी विषय भोगादिकका निदान करना, वांछा करना और उसका विचार करते रहना सो निदान नामका चौथा आर्त्तध्यान है ॥ ३३ ॥

तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ॥ ३४ ॥

अर्थ–(तत्) वह आर्त्तध्यान (अविरतदेशविरतप्रमत्त-

---

१ यहां ' अविरत ' शब्दसे चतुर्थगुणस्थानवर्ती नहीं, किंतु व्रतरहित जीव (मिथ्यात्वगुणस्थानसे लेकर अविरतसम्यग्दृष्टि तक) समझना चाहिए ।

संयतानाम्) मिथ्यात्व, सासादान, मिश्र और अविरत इन चार गुणस्थानवालोंके तथा पांचवें देशविरत और छट्ठे प्रमत्तसंयत गुणस्थानवालोंके होता है। परंतु ऊपर कहे हुए चारप्रकारके आर्त्तध्यानोंमेंसे निदान नामका आर्त्तध्यान प्रमत्त गुणस्थानवालोंके नहीं होता है ॥ ३४ ॥

हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः॥ ३५

अर्थ-(अविरतदेशविरतयोः) अविरती अर्थात् पहले चार गुणस्थानवाले जीवोंके और देशविरती अर्थात् पांचवें गुणस्थानवालोंके (हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यः) हिंसा, अनृत (झूठ), स्तेय (चोरी) और विषयोंकी रक्षासे चारप्रकारका (रौद्रम्) रौद्रध्यान होता है। हिंसा करनेका वारंवार चिंतवन करना, और उसमें आनंद मानना हिंसानंदी, झूठ बोलनेका चितवन करना मृषानंदी, चोरीका चितवन करना चौर्यानंदी और परिग्रहकी रक्षाका चितवन करना परिग्रहानंदी रौद्रध्यान है ॥ ३५ ॥

अब धर्मध्यानके चार भेद कहते हैं;-

आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम् ॥ ३६ ॥

अर्थ-(आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय) आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थानके विचय अर्थात् विचारकेलिए वारंवार चितवन करना सो (धर्म्यम्) चारप्रकारका धर्म्यध्यान है। उपदेशदाताके अभावसे और अपनी मंदबुद्धिसे सूक्ष्म पदार्थोंका स्वरूप अच्छी तरह समझमें न आवे, तो उस समय सर्वज्ञकी आज्ञाको प्रमाण मानकर गहन पदार्थका अर्थ स्वीकार करना आज्ञाविचय धर्म्यध्यान है। मिथ्यादृष्टियोंके कहे हुए उन्मार्गसे ये प्राणी कैसे फिरेंगे? इनके

अनायतसेवाका अभाव किस प्रकारसे होगा ? ये कब सन्मार्गमें आवेंगे ? समीचीन मार्गका तो प्राय: अभावसा हो गया है, ' इस प्रकार सन्मार्गके अपायका चिंतवन करना, सो अपायविचय धर्म्यध्यान है। ज्ञानावरणादि कर्मोंका द्रव्यक्षेत्रकालभावके अनुसार जो विपाक अर्थात् फल होता है, उसका चिंतवन करना विपाकविचय धर्म्यध्यान है। और लोकके संस्थानोंका चिंतवन करना सो संस्थानविचय धर्म्यध्यान है। यह धर्म्यध्यान चौथे असंयत, पांचवें देशसंयत, छट्ठे प्रमत्तसंयत और सातवें अप्रमत्तसंयत इन चार गुणस्थानोंमें होता है ॥ ३६ ॥

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ॥ ३७ ॥

अर्थ—अगले ३९ वें सूत्रमें पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, व्युपरतक्रियानिवर्ति ये शुक्लध्यानके चार भेद कहेंगे, उनमेंसे (आद्ये शुक्ले) आदिके दो शुक्लध्यान (पूर्वविदः) पूर्वके जाननेवाले अर्थात् श्रुतकेवलीके होते हैं। चकारसे यह सामर्थ्य निकलती है कि श्रुतकेवलीके धर्म्यध्यान भी होते हैं ॥ ३७ ॥

परे केवलिनः ॥ ३८ ॥

अर्थ—(परे) अगले सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति ये दो ध्यान (केवलिनः) सयोगकेवली और अयोगकेवलीके ही होते हैं, छद्मस्थके नहीं ॥ ३८ ॥

अब शुक्लध्यानके चार भेद कहते हैं;—

पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवर्तीनि ॥ ३९ ॥

अर्थ—पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और

व्युपरतक्रियानिवर्ति ये शुक्लध्यानके चार भेद हैं ॥ ३९ ॥

अब शुक्लध्यानके अवलंबन कहते हैं,—

त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम् ॥ ४० ॥

अर्थ—उक्त चारों भेदोंमेंसे पृथक्त्ववितर्क नामका प्रथम शुक्लध्यान तो मन, वचन और काय इन तीनों योगोंके धारकके होता है। दूसरा एकत्ववितर्क नामका शुक्लध्यान तीनोंमेंसे किसी एक योगवालेके होता है। तीसरा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामका ध्यान काययोगवालोंके ही होता है और चौथा व्युपरतक्रियानिवर्ति नामका ध्यान अयोगकेवलीके होता है ॥ ४० ॥

अब प्रथमके दो ध्यानोंके विशेष जाननेकेलिए सूत्र कहते हैं:—

एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे ॥ ४१ ॥

अर्थ—(पूर्वे) पहलेके दो ध्यान अर्थात् पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क नामके दो शुक्लध्यान (एकाश्रये) एकाश्रय अर्थात् श्रुतकेवलीके आश्रय होते हैं और वे (सवितर्कवीचारे) वितर्क और वीचारसहित होते हैं ॥ ४१ ॥

इस सूत्रमें वितर्क और वीचारको कोई यथासंख्य नहीं समझ लेवे, अर्थात ऐसा न समझ लेवे कि, पहला सवितर्क है और दूसरा सवीचार है, इसलिए कहते हैं;—

अवीचारं द्वितीयम् ॥ ४२ ॥

अर्थ—(द्वितीयम्) दूसरा शुक्लध्यान (अवीचारं) वीचाररहित है अर्थात् आदिका शुक्लध्यान तो वितर्क और वीचार दोनोंसहित है और दूसरा वितर्कसहित है परंतु वीचाररहित है ॥ ४२ ॥

अब वितर्कका लक्षण कहते हैं;—

वितर्कः श्रुतम् ॥ ४३ ॥

अर्थ–(श्रुतम्) श्रुतज्ञान है सो (वितर्कः) वितर्क है। अर्थात् श्रुतज्ञानको वितर्क कहते हैं। विशेष प्रकारसे तर्क करनेको वितर्क कहते हैं। शब्दश्रवणपूर्वक अर्थग्रहणको श्रुतज्ञान कहते हैं ॥ ४३

वीचारोऽर्थव्यंजनयोगसंक्रांतिः ॥ ४४ ॥

अर्थ–(अर्थव्यंजनयोगसंक्रांतिः) अर्थ, व्यंजन और योगोंकी पलटन है: सो (वीचारः) वीचार है। ध्येयमें द्रव्यको छोडकर उसकी पर्यायका ध्यान करनेको और पर्यायको छोडकर द्रव्यका ध्यान करनेको अर्थसंक्रांति कहते हैं। श्रुतके एक वचनका अवलंबन करके अन्यका अवलंबन करनेको और उसको छोड दूसरेका अवलं‐बन करनेको व्यंजनसंक्रांति कहते हैं। एवं काययोगको छोडकर मनोयोग वा वाग्योगके ग्रहण करनेको और मनोयोग वा वाग्योगको छोडकर काययोगके ग्रहण करनेको योगसंक्रांति कहते हैं। इस प्रकारके परिवर्त्तनको ही वीचार कहते हैं ॥ ४४ ॥

इस प्रकार बाह्याभ्यंतरतपोंका वर्णन किया। ये दोनों तप नवीन कर्मोंका निरोध करनेके हेतु होनेसे संवरके कारण हैं और पूर्वबद्ध कर्मोंके नष्ट करनेके निमित्त होनेसे निर्जराके भी कारण हैं।

अब तपश्चरणादि करनेसे जो निर्जरा होना कहा है, वह समस्त सम्यग्दृष्टी जीवोंके एकसी ही होती है कि भिन्न भिन्न होती है, यह बतलानेकेलिए सूत्र कहते हैं;–

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानंतवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशांतमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः

अर्थ–(सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानंतवियोजकदर्शनमोहक्षप-

कोपशमकोपशांतमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः) सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत अर्थात् महाव्रती मुनि, अनंतानुबंधीका विसंयोजन करनेवाला, दर्शनमोहको नष्ट करनेवाला, चारित्रमोहको उपशम करनेवाला, उपशांतमोहवाला, क्षपकश्रेणी चढता हुआ, क्षीणमोही और जिनेंद्र भगवान् ये दश (क्रमशः) उत्तरोत्तर (असंख्येयगुणनिर्जराः) असंख्यातगुणी निर्जरा वाले होते हैं। अर्थात् सम्यग्दृष्टिसे असंख्यातगुणी पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावकके और श्रावकसे असंख्यातगुणी मुनिके इस प्रकार प्रत्येकके ऊपर ऊपर बढती हुई असंख्यातगुणी निर्जरा होती है ॥ ४५ ॥

अब मुनियोंके पांच भेद कहते हैं;—

पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रंथस्नातका निर्ग्रंथाः ॥ ४६ ॥

अर्थ-(पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रंथस्नातकाः) पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रंथ और स्नातक, ऐसे पांचप्रकारके (निर्ग्रंथाः) निर्ग्रंथ साधु हैं। जो उत्तर गुणोंकी भावनारहित हों और मूलगुणोंमें भी किसी काल वा किसी क्षेत्रमें परिपूर्णताको प्राप्त न हों, अर्थात् कभी किसी कारणके वशसे जिनके मूलगुणोंमें भी दोष लग जाता है, उन्हें पुलाकमुनि कहते हैं। जिनके मूलगुण परिपूर्ण हों परन्तु अपने शरीर उपकरणादिकी शोभा वढानेकी किंचित् इच्छा रहती हो उनको बकुशमुनि कहते हैं। कुशीलमुनि दोप्रकारके होते हैं एक प्रतिसेवनाकुशील और दूसरे कषायकुशील। जिनके उपकरण और शरीरादिकसे विरक्तता न हो और मूलगुण तथा उत्तरगुणोंकी भी परिपूर्णता तो हो, परन्तु उत्तर गुणोंमें कारणविशेषसे कभी कुछ विराधना आती हो, उनको प्रतिसेवनाकुशील कहते हैं। और

जिन्होंने संज्वलन कषायके अतिरिक्त अन्य कषायोंको जीत लिया हो उन्हें कषायकुशील कहते हैं। जिनके मोहकर्मके उदयका अभाव हो और जैसे जलमें दंड ताडनसे लहर उठती है और शीघ्र ही विलय हो जाती है, उसी प्रकार अन्य कर्मोंका उदय मंद हो, प्रगट अनुभवमें नहीं आवे, उनको निर्ग्रंथ साधु कहते हैं। और समस्त घातिया कर्मोंको नाश करनेवाले केवली भगवान् स्नातक हैं। इस प्रकार ये पांचों ही निर्ग्रंथ हैं ॥ ४६ ॥

अब पुलाकादिक निर्ग्रंथोंके और भी भेद कहते हैं;—

**संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंगलेश्योपपादस्थान-
विकल्पतः साध्याः ॥ ४७ ॥**

अर्थ-(संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंगलेश्योपपादस्थानविकल्पतः) संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिंग, लेश्या, उपपाद और स्थान इन आठप्रकारके भेदोंसे भी पुलाकादिक मुनि (साध्याः) साधने योग्य हैं। अर्थात् उक्त आठ कारणोंसे पुलाकादिक मुनियोंके और और भी भेद होते है ॥ ४७ ॥

इति श्रीमदुमास्वामिविरचिते तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे
नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

दशम अध्याय।

इस अध्यायमें सप्ततत्त्वोंके वर्णनमेंसे मोक्षतत्त्वका स्वरूप कहना है और मोक्षकी प्राप्ति केवलज्ञानपूर्वक है अर्थात् पहले केवलज्ञान हो जाता है, तब मोक्ष होता है। इस कारण पहले केवलज्ञानकी

---

१ उपशांतकषाय और क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती।

उत्पत्तिका कारण कहते हैं;—

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणांतरायक्षयाच्च केवलम् ॥१॥

अर्थ—(मोहक्षयात्) मोहनीयकर्मके क्षय होनेके पश्चात् अंतर्मुहूर्त्त पर्यंत क्षीणकषाय नामका बारहवां गुणस्थान पाकर (च) बादमें (ज्ञानदर्शनावरणांतरायक्षयात्) युगत् (एक साथ) ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतरायका क्षय होनेसे (केवलम्) केवलज्ञान होता है। भावार्थ—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय इन चार घातिया कर्मोंके सर्वथा नष्ट हो जानेपर केवल ज्ञानकी प्राप्ति होती है ॥ १ ॥

अब मोक्षका लक्षण क्या है और वह किस कारणसे होता है, सो कहते हैं;—

बंधहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ॥ २ ॥

अर्थ—(बंधहेत्वभावनिर्जराभ्यां) बंधके कारणोंके नहीं रहनेसे और पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा अर्थात् अभाव होजाने पर (कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षः) समस्त कर्मोंका अत्यंत अभाव हो जाना, सो (मोक्षः) मोक्ष है। भावार्थ—केवलज्ञान होनेके पश्चात् वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चार अघातिया कर्मोंका नाश हो जाना अर्थात् कर्मबंधके कारणोंका अभाव और पूर्वसंचित कर्मोंकी सत्ताका सर्वथा नाश हो जाना, सो ही मोक्ष है ॥ २ ॥

अब पुद्गलमयी द्रव्यकर्मकी प्रकृतियोंके नाश हो जानेसे ही मोक्ष होता है या भावकर्मोंका भी नाश हो जाता है? इस प्रश्नका उत्तर देनेकेलिए सूत्र कहते हैं;—

औपशमिकादिभव्यत्वानां च ॥ ३ ॥

अर्थ-(च) और मुक्तजीवके (औपशमिकादिभव्यत्वानाम्) औपशमिकादि भावोंका और पारिणामिक भावोंमेंसे भव्यत्वभावका भी अभाव होजाता है। भावार्थ-औपशमिक, क्षायोपशमिक और औदयिक तथा भव्यत्व इन चारप्रकारके भावोंका और पुद्गलकर्मोंकी समस्त प्रकृतियोंका नाश हो जानेपर मोक्ष होता है ॥ ३ ॥

अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ॥ ४ ॥

अर्थ-(केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः) केवलसम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और केवलसिद्धत्व इन चार भावोंके (अन्यत्र) सिवाय अन्य भावोंका मुक्त जीवके अभाव है। यहां प्रश्न होता है कि, यदि मुक्त जीवके ये चार ही भाव अवशेष रहते हैं, तो अनंतवीर्यादिका भी अभाव समझना चाहिए? इसका समाधान यह है कि अनंतवीर्यादिक हैं वे अनंतज्ञान और अनंतदर्शनसे अविनाभावीसंबंधवाले हैं अर्थात् अनंतज्ञान और अनंतदर्शनके साथ साथ अनंतवीर्य अनंतसुखादिक भाव भी नियमसे रहते हैं क्योंकि अनंतसुख अनंतवीर्य जीवमें ही होते हैं, जडमें नहीं होते। जब जीवमें होते हैं, तो जीव अनंतज्ञानमय है—ज्ञानके विना जडके सुख हो ही नहीं सकता ॥ ४ ॥

तदनंतरमूर्ध्वं गच्छत्या लोकांतात् ॥ ५ ॥

अर्थ-(तदनंतरम्) समस्त कर्मोंके नष्ट हो जानेके पश्चात् मुक्तजीव (आलोकांतात्) लोकके अंत भाग तक (ऊर्ध्वं) ऊपरको (गच्छति) जाता है ॥ ५ ॥

अब ऊर्ध्वगमनका हेतु कहते हैं;—

पूर्वप्रयोगादसंगत्वाद्बंधच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च ॥ ६ ॥

अर्थ-(पूर्वप्रयोगात्) पूर्वप्रयोगसे (असंगत्वात्) असंग होनेसे (बंधच्छेदात्) कर्मबंधके नष्ट हो जानेसे (च) और (तथागतिपरिणामात) तथागतिपरिणामसे अर्थात् ऊर्ध्वगमन स्वभाव होनेसे मुक्तजीवका ऊर्ध्वगमन होता है ।

अब इन चारों कारणोंके चार दृष्टांत देते हैं;—

आविद्धकुलालचक्रवद् व्यपगतलेपालाबुवदेरंडबीजवदग्निशिखावच्च ॥ ७ ॥

अर्थ -(आविद्धकुलालचक्रवत्) कुम्हारके द्वारा घुमाये हुए चक्रके समान, (व्यपगतलेपालाबुवत् . जिसपरसे मिट्टीका लेप दूर हो गया है ऐसी तूम्बीके समान, (एरण्डबीजवत्) एरण्डके बीजके समान, (च) और (अग्निशिखावत्) आगकी शिखाके समान मुक्त जीवका ऊर्ध्वगमन होता है । ये चार दृष्टांत पूर्वसूत्रमें दिये हुए चार हेतुओंको पुष्ट करनेवाले हैं । अर्थात् जिसतरह पूर्वके प्रयोगसे दण्डेके द्वारा भरे हुए घुमावसे कुम्हारका चक्र घुमाना बन्द हो जानेपर भी बराबर फिरता रहता है, उसी प्रकारसे संसारी जीव मुक्तिगमनकेलिये जो निरन्तर चिंतवन किया करता है, उस संस्कारके कारण मुक्त हो जानेपर भी गमन करता है । जिस तरह मिट्टीसे लिपटी हुई तूम्बी जबतक मिट्टीके कारण भारी रहती है, तब तक पानीमें डूबी रहती है, परन्तु ज्यों ही उसपरसे मिट्टी धुल जाती है, त्यों ही वह तूंबी पानीके ऊपर उतरा आती है । इसी प्रकारसे कर्मके भारसे दबा हुआ आत्मा ज्यों ही उनसे छुटकारा पाकर हलका हो जाता है, त्यों ही ऊपरको गमन करता है । जिस तरह एरण्डका बीज प्रथम तो फलके आवरणसे जकड़ा हुआ रहता है, परन्तु ज्यों ही

सूखनेपर आवरण दूर होता है, त्यों ही चिटककर ऊपरको उछलता है। इसी प्रकारसे कर्मप्रकृतियोंसे बंधा हुआ आत्मा ज्यों ही छूटता है, त्यों ही ऊपरको जाता है, और जिस तरह इधर उधर की हवाके न रहनेपर अग्निकी शिखा ऊपरको ही जाती है, उसी प्रकार मनुष्यादि गतियोंमें ले जानेवाले कर्मोंके अभावसे जीव स्वभावसे ऊपरको गमन करता है ॥ ७ ॥

जीवका जब ऊर्ध्वगमनका स्वभाव है, तो फिर लोकके अन्तमें भी क्यों ठहर जाता है ? अलोकाकाशमें भी क्यों नहीं चला जाता है ? इसका उत्तर आचार्य महाराज देते हैं कि,—

धर्मास्तिकायाभावात् ॥ ८ ॥

अर्थ—अलोकाकाशमें धर्मास्तिकायके अभाव होनेसे गमन नहीं होता है। अर्थात् धर्मादिक पांच द्रव्योंका निवास लोकाकाशमें ही है—अलोकाकाशमें नहीं है। और जीव और पुद्गलको गमन करनेमें सहायक धर्मद्रव्य ही होता है जिसका कि आगे अभाव है, इसलिए जीवके गमनका भी अभाव है। इसी कारण मुक्तजीव लोकके अंतमें जाकर सिद्धस्थानमें ठहर जाता है ॥ ८ ॥

यदि यहां कोई प्रश्न करे कि मुक्त जीवोंमें परस्पर कुछ भेद भी है कि नहीं ? तो इसका उत्तर इस प्रकार है;—

क्षेत्रकालगतिलिंगतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनांतरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ॥ ९ ॥

अर्थ—(क्षेत्रकालगतिलिंगतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञा, नावगाहनांतरसंख्याल्पबहुत्वतः) क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ-चारित्र, प्रत्येकबुद्ध, बोधित, ज्ञान, अवगाहन, अंतर, संख्या और

अल्पबहुत्व इन बारह अनुयोगोंसे सिद्धोंमें भी भेद (साध्याः) साधने चाहिए। अर्थात् इन कारणोंसे मुक्तजीवोंके भी भेद किये जा सकते हैं।

भावार्थ—वास्तवमें तो सिद्धोंमें कोई भेद नहीं है, सब एकसे हैं; परंतु क्षेत्रकी अपेक्षासे कि भरत विदेह आदि किस क्षेत्रसे वे मुक्त हुए हैं, कालकी अपेक्षासे—कि किस कालमें मुक्त हुए हैं, गतिकी अपेक्षासे—कि किस गतिसे मोक्ष गये हैं, लिंगकी अपेक्षासे—कि तीन भावलिंगोंमेंसे किस लिंगसे क्षपकश्रेणी चढकर मोक्ष पाया है, तीर्थकी अपेक्षासे—कि किस तीर्थंकरके तीर्थमें मोक्षको गये हैं वा तीर्थंकर होकर मोक्ष हुए हैं या सामान्य केवली होकर हुए हैं, चारित्रकी अपेक्षासे—कि किस चारित्रसे कर्मोंसे छूटे हैं, प्रत्येकबुद्धबोधितकी अपेक्षासे—कि स्वयं बोधित होकर सिद्ध हुए हैं या किसीके उपदेशसे बोधित हुए हैं, ज्ञानकी अपेक्षासे—कि मति श्रुत पूर्वक केवलज्ञान पाकर मोक्षको गये हैं या मति श्रुत अवधि या मति श्रुत अवधि मनःपर्ययपूर्वक केवली हुए हैं, अवगाहनाकी अपेक्षासे—कि अधिकसे अधिक सवापांच सौ धनुषके और छोटेसे छोटे साढे तीन हाथके शरीरमेंसे किस शरीरसे मोक्ष गए हैं, अंतरकी अपेक्षासे कि—एक मुक्त हुए जीवसे दूसरे मुक्त जीवके बीचके समयमें कितना अंतर है, संख्याकी अपेक्षासे कि उनके साथ और कितने जीव मुक्त हुए हैं और अल्पबहुत्वकी अपेक्षासे—कि समुद्र द्वीप आदि स्थानोंसे थोडे बहुत कितने सिद्ध हुए हैं—इस तरह सिद्धोंमें भेदोंकी कल्पना हो सकती है ॥ ९ ॥

इति श्रीमदुमास्वामिविरचिते तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

अंतिम प्रार्थना ।

अक्षरमात्रपदस्वरहीनं व्यंजनसंधिविवर्जितरेफम् ।
साधुभिरत्र मम क्षमितव्यं को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे ॥ १ ॥

अर्थ—यदि यह ग्रन्थ कहींपर अक्षर, मात्रा, पद, स्वर रहित हो तथा व्यंजन, संधि और रेफ वर्जित हो, तो इस विषयमें सज्जन पुरुषोंको वा मुनिजनोंको मुझपर क्षमा करना चाहिए। भला, इस शास्त्ररूपी महान् समुद्रमें कौन गोते नहीं खाता अर्थात् कौन नहीं भूलता है—भूल सबसे होती है।

माहात्म्य ।

दशाध्यायपरिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति ।
फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुंगवैः ॥ २ ॥

अर्थ—इस दश अध्यायवाले तत्त्वार्थशास्त्रके भावपूर्वक पढ़नेसे एक उपवासके करनेका फल होता है, ऐसा बड़े बड़े मुनियोंने कहा है।